समालोचना-समुच्चय

महावीरप्रसाद द्विवेदी

समालोचना-समुच्चय

लेखक

महावीरप्रसाद द्विवेदी

प्रकाशक

रामनरायन लाल
पब्लिशर और बुकसेलर
इलाहाबाद

प्रथम बार १०००] १९३० [मूल्य २॥)

निवेदन

इस संग्रह में निवेदनकर्त्ता की जो समालोचनायें प्रकाशित हैं वे सब, समय समय पर, "सरस्वती" में निकल चुकी हैं। जो समालोचना जिस समय निकली थी उसका उल्लेख उसी के नीचे कर दिया गया है। आलोचनायें अधिकतर हिन्दी ही की पुस्तकों की हैं। पर कुछ संस्कृत-पुस्तकों और उनके अंश-विशेषों की भी हैं। दो एक आलोचनायें अन्य भाषाओं की पुस्तकों की भी हैं। अधिकांश आलोचनायें ऐसी ही पुस्तकों की हैं जो लेखकों को समालोचना ही के लिए प्राप्त हुई थीं। हाँ, कई आलोचनायें ऐसी भी हैं जिनके प्रकाशन के लिए उससे किसी ने प्रेरणा न की थी; उन्हें उसने स्वयमेव प्रेरित होकर लिखा और प्रकाशित किया था।

जो लेख इसमें संग्रहीत हैं उनमें से कई बहुत पुराने हैं। उनका प्रथम-प्रकाशन हुए बीस-बीस पच्चीस-पच्चीस वर्ष हो चुके। तब से हिन्दी-साहित्य बहुत कुछ उन्नत हो गया है। अतएव इन लेखों से तत्कालीन समालोचना-साहित्य की तुलना वर्तमानकालीन साहित्य से करने में बहुत कुछ सुभीता हो सकता है। बात यह है कि साहित्य की इस शाखा की ओर हिन्दी-लेखकों का ध्यान इधर कुछ ही समय से अधिक गया है। अब तो बड़े बड़े विद्वान् और पदवीधर पण्डित अपने पाण्डित्यपूर्ण लेखों से इस शाखा की समुन्नति कर रहे हैं। पर एक समय था जब हिन्दी-साहित्य में इस विषय के लेखों का प्रायः अभाव ही था। यदि किसी

समाचारपत्र या पुस्तक का सम्पादक किसी पुस्तक के सम्बन्ध में कुछ लिखता भी था तो दस पाँच सतरों से अधिक न लिखता था और उनमें समालोच्य पुस्तक के विषय में, परिचय के तौर पर, योंहीं कुछ लिख कर अपने कर्तव्य से छुट्टी पा जाता था।

किसी विषय-विशेष की ओर, आरम्भ में, सर्वसाधारण जनों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए बहुत नहीं तो कुछ प्रयत्न और परिश्रम की अवश्य ही आवश्यकता होती है। यह प्रयत्न किसने और कितना किया है और उसे इस समालोचना-कार्य्य में कितनी सफलता मिली है, और मिली भी है या नहीं, इस बात का अनुमान, आशा है, इस पुस्तक से, थोड़ा बहुत, लग ही जायगा। आरम्भ के २० वर्षों में जो समालोचनायें "सरस्वती" में निकली हैं वे, किसी किसी की राय में, कठोर थीं। इस बात का निर्णय करने में कि यह आक्षेप, आजकल की आलोचनाओं की तुलना में, कहाँ तक न्यायसङ्गत है और है भी या नहीं, इस संग्रह से पाठकों को कुछ न कुछ सहायता मिलने की आशा है। यदि यह आक्षेप सर्वांश में भी सच हो तो भी निवेदनकर्त्ता के लिए परिताप का कोई कारण नहीं। उसके लिए यही क्या कम सन्तोष की बात है कि उसके सदृश अल्पज्ञ द्वारा प्रदर्शित मार्ग, पहले की अपेक्षा अब अधिक प्रशस्त हो गया है और होता जा रहा है, तथा बड़े बड़े विज्ञ विद्वान् अब उस पथ के पथिक होकर उसकी उन्नति में दत्तचित्त हैं।

पुस्तकान्त में जो २० नम्बर का लेख है उसका विस्मरण ही संग्रहकार को हो गया था। स्मरण उसका एक मित्र ने कराया। उनसे मालूम हुआ कि जिन सज्जनों की पुस्तक की आलोचना उसमें है उन्होंने उसका प्रतिवाद भी किया है और बड़ी योग्यता

से किया है—इतनी योग्यता से कि उन्होंने उस लेख में प्रयुक्त दलीलों की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। सुना जाता है, उनका वह प्रतिवाद, उनकी किसी-संग्रह पुस्तक में, कहीं, अलग भी प्रकाशित किया गया है। यही कारण है जो हिन्दी-नवरत्न की समालोचना भी, इस संग्रह के अन्त में, रख देनी पड़ी। इससे यह लाभ होगा कि जहाँ पाठक प्रतिवादकर्ता महाशयों की योग्यता के ज्ञान से पुरस्कृत होंगे वहाँ, यदि वे इस संग्रह के अन्तिम लेख को पढ़ने का कष्ट उठावेंगे तो, उसके लेखक की अज्ञता या अल्पज्ञता और अयोग्यता या असमर्थता के ज्ञान से भी संस्कृत हुए बिना न रहेंगे।

दौलतपुर (रायबरेली)
१४ जनवरी १९२८

महावीरप्रसाद द्विवेदी

विषय-सूची

लेखाङ्क	लेख-नाम	पृष्ठ
१	गोपियों की भगवद्भक्ति	१
२	जगद्धर-भट्ट का दीनाक्रन्दन	१४
३	भारतीय-चित्रकला	२५
४	भट्टिकाव्य	३५
५	गायकवाड़ की पूर्वी भाषाओं की पुस्तकमाला	४६
६	पृथ्वी-प्रदक्षिणा	६७
७	वैदिक-कोष	९१
८	विचार-विमर्श	९६
९	हिन्दी-विश्वकोश	१०३
१०	पराक्रमनी प्रसादी	११२
११	अक्षर-विज्ञान	१२०
१२	ओंकार-महिमा-प्रकाष	१३५
१३	माथुर जी का रामायण-ज्ञान	१३८
१४	उर्दू-शतक	१४२
१५	रीडरों में ब्राकेटबन्दी	१४८
१६	पूर्वी हिन्दी	१५९
१७	अकबर के राजत्वकाल में हिन्दी	१६९
१८	आयुर्वेद-महत्व	१७७
१९	खोज-विषयक रिपोर्ट	१९१
२०	हिन्दी-नवरत्न	१९८

समालोचना-समुच्चय

गोपियों की भगवद्भक्ति

[१]

शरत्काल है। धरातल पर धूल का नाम नहीं। मार्ग रजो-रहित है। नदियों का औद्धत्य जाता रहा है; वे कृश हो गई हैं। सरोवर और सरिताएँ निर्मल जल से परिपूर्ण हैं। जलाशयों में कमल खिल रहे हैं। भूमि-भाग काशांसुकों से शोभित हैं। वनोपवन हरे हरे लोल-पल्लवों से आच्छादित हैं। आकाश स्वच्छ है; कहीं बादल का लेश नहीं। प्रकृति को इस प्रकार प्रफुल्ल-वदना देखकर एक दफे, रात के समय, श्रीकृष्ण को एक दिल्लगी सूझी—

> दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं
> रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम्।
> वनञ्च तत्कोमलगोभिरञ्जितं
> जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥

उस दिन शरत्पूर्णिमा थी। श्रीकृष्ण ने देखा, भगवान् निशा-नायक का बिम्ब अखण्ड-भाव से उदित है; वह अपनी सोलहों कलाओं से परिपूर्ण है। नवीन कुङ्कुम के समान उसका अरुणबिम्ब रमा के मुखमण्डल को भी मात कर रहा है। उसकी कोमल-किरणमाला वन में सर्वत्र फैली हुई है। ऐसे उद्दीपनकारी समय में उन्होंने अपनी मुरली की मधुर तान छेड़ दी। उसकी ध्वनि ने,

गोपियों के मानस को बलात् अपनी ओर खींच लिया। वे उस लोकोत्तर निनाद को सुनकर मोहित हो गईं।

वंशी की ध्वनि सुनकर गोपियों की अन्य समस्त इन्द्रियाँ कर्णमय हो गईं। अन्य इन्द्रियों के धर्म्म लोप हो गये। अकेली श्रवणेन्द्रिय अक्षुण्ण रही। श्रीकृष्ण के द्वारा बनाई गई वंशी की ध्वनि उससे सुन कर गोपियाँ आकुल हो उठीं। उन्होंने घर के सारे काम छोड़ दिये। शिशुओं को स्तन्यपान कराना और पतियों की शुश्रूषा करना भी वे भूल गईं। वे सहसा घर से निकल पड़ीं और उसी तरफ़ दौड़ीं जिस तरफ़ से वह मनो मुग्धकारिणी ध्वनि आ रही थी। आकर उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण जी अपने नटवर-वेश में खड़े वंशी बजा रहे हैं। धीरे धीरे उनके पास एक दो नहीं, सैकड़ों, गोपियाँ एकत्र हो गईं। इतनी आतुर होकर, हड़बड़ी में, वे घर से निकल पड़ी थीं कि उन्होंने अपने वस्त्राभूषण तक ठीक ठीक—जिसे जहाँ पर और जिस तरह पहिनना चाहिए था—नहीं पहना था। उन्हें इस तरह आई देख श्रीकृष्ण को फिर एक दिल्लगी सूझी। आपने वंशी बजाना बन्द कर दिया और बोले—

स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः।
व्रजस्यानामयं कच्चिद् ब्रूतागमनकारणम्॥

स्वागत ! स्वागत ! खूब आईं। कहिये, क्या हुआ है ? कुशल तो है ? व्रज पर कोई विपत्ति तो नहीं आई ? किस लिए रात को यहाँ आगमन हुआ ?

ज़रा इन प्रश्नों को तो देखिए। स्वागत-सत्कार के ढङ्ग पर तो विचार कीजिए। आप ही ने तो बुलाया और आप ही आने का कारण पूछ रहे हैं ! यह दिल्लगी नहीं तो क्या है ? और दिल्लगी भी बड़ी ही निष्करुण। बात यहीं तक रहती तो ग़नीमत थी। कृष्ण ने तो, इसके आगे, गोपियों को कुछ उपदेश भी दिया।

उपदेश क्या दिया, जले पर नमक छिड़का। आपके व्याख्यान का कुछ अंश सुनिए।

रात बड़ी ही भयावनी है। जङ्गल बेहद घना है। हिंस्र जीव इधर उधर घूम रहे हैं। भला यह समय भी क्या स्त्रियों के बाहर निकलने का है? तुम्हारे बाल-बच्चे रोते होंगे। तुम्हारे पति, पुत्र, पिता आदि कुटुम्बी तुम्हें ढूँढ़ते होंगे। राका-शशी की किरणों से रञ्जित कुसुमित-कानन की सैर हो चुकी। रविनन्दिनी यमुना की तरल तरङ्गों की शोभा तुम देख चुकीं। यदि प्रेम-परवशता के कारण मेरे दर्शनार्थ तुम चली आई तो तुम्हारी वह दर्शन-पिपासा भी पूर्ण हो गई। हो चुका। बस, अब तुम पधारो; अपने अपने घर लौट जाव; जाकर अपने अपने स्वामियों की शुश्रूषा करो—

दुःशीलो दुर्भगो वृद्धो जड़ो रोग्यधनोऽपि वा।
पतिः स्त्रीभिर्न हातव्यो लोकेप्सुभिरपातकी॥

देखो, अपना पति दुःशील, दुर्भग, वृद्ध, जड़, रोगी और निर्धन ही क्यों न हो, स्त्रियों को उसका त्याग कदापि न करना चाहिए। तुम जिस अभिप्राय से यहाँ आई हो वह अत्यन्त निन्द्य है। उससे तुम्हारे दोनों लोक बिगड़ जायँगे।

श्रीकृष्ण के इस व्याख्यान पर ध्यान दीजिए और फिर उनके उस प्रश्न पर विचार कीजिए। प्रश्न था कि तुम आई क्यों? इस प्रश्न का उत्तर आप स्वयं ही दे रहे हैं। फिर भी आपने प्रश्न करने की ज़रूरत समझी! इसी से हम कहते हैं कि यह सारी दिल्लगी थी। दिल्लगी पर दिल्लगी।

प्रियतम कृष्ण का यह रुख़ देख कर और उनकी यह प्रश्नावली तथा उपदेशमाला सुन कर गोपियों के होश उड़ गये। उन्हें स्वप्न में भी यह ख़याल न हुआ होगा कि उनके साथ इतना कठोर

बर्ताव किया जायगा। वे थीं अबला और अबलाओं का विशेष बल होता है रोना और आक्रोश करना, सिसकना और सिर धुनना। उसी का अवलम्ब उन्होंने किया। वे लगीं रोने। बड़े बड़े आँसुओं के साथ, लगा उनकी आँखों का काजल बहने। मुँह उनके सूख गये। अत्युष्ण श्वासोच्छ्वासों की मार से उनके बिम्बाधर कुम्हला गये। बड़ी देर तक वे अपने पैर के अँगूठों से ज़मीन कुरेदती हुई ठगी सी खड़ी रहीं। हाय, बड़ा धोखा हुआ। यह निष्ठुरता! हमारे अनन्य और निर्व्याज प्रेम का यह बदला! हमने जिसे अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया उसका यह निष्कृप व्यवहार! इसी तरह की बातें उन्होंने मन ही मन कीं। भगवान् कृष्ण स्वयं ही जान सके होंगे कि उनके उस धर्म्ममूलक ढकोसले की दुहाई ने गोपियों के कमल-कोमल हृदयों पर कितना निष्ठुर वज्रपात किया होगा। ख़ैर, अपने होश किसी तरह थोड़ा बहुत सँभाल कर उनमें से कुछ प्रगल्भा गोपियों ने कृष्ण के सदुपदेश का इस प्रकार सत्कार किया। वे बोलीं—

सरकार, आप तो बहुत बड़े पण्डित-प्रवर निकले। पण्डित ही नहीं, धर्मशास्त्री भी आप बन बैठे हैं। हमें आपके इन गुणों की अब तक ख़बर ही न थी। आपकी इन परमपावन कल्पनाओं का ज्ञान तो हमें आज ही हुआ। प्रार्थना यह है कि आप आदि-पुरुष भगवान् को भी जानते हैं या नहीं। मोक्ष की इच्छा रखने वाले मुमुक्षु जन, अपना घर-द्वार, स्त्री-पुत्र, धन-वैभव, सभी सांसारिक पदार्थों का परित्याग करके जब उनकी शरण जाते हैं तब, आप ही की तरह, क्या वे भी उन मुमुक्षुओं को वैसा ही शुष्क उपदेश देते हैं जैसा कि आपने हम लोगों को दिया? क्या कभी कोई पुरुष भगवान् के दरबार या द्वार से उसी तरह दुरदुराया गया है जिस तरह कि आप हमें दुरदुरा रहे हैं? आपको सर्वेश और सर्वात्मा

समझ कर ही हम आपकी सेवा में उपस्थित हुई हैं। अतएव, हे पण्डित-शिरोमणे ! आप हमसे पण्डिताई न छाँटिए। आप अपने पाण्डित्य का संवरण कीजिए। कठोरता का अवतार न बनिए। नृशंस वाक्यों को मुख में न लाइए। समस्त विषयों को तृणवत् समझ कर हम आप के पादपद्म का आश्रय लेने आई हैं। हमारा स्वीकार कीजिए। व्यर्थ की बातें न बनाइए। परुषवचनावली और नृशंसता आपको शोभा नहीं देती।

हाँ, आपकी एक बात का जवाब रह गया ! आपकी धर्म-भीरुता हमें बिलकुल नहीं जँची। मनु, याज्ञवल्क्य और पराशर आदि धर्म-शास्त्रकारों के मत का मनन आपने ख़ूब ही किया, मालूम होता है। परन्तु, सरकार, इन ऋषियों से भी बड़े नहीं तो समकक्ष अन्य ऋषियों ने जो कुछ कह या लिख रक्खा है उस पर आपका ध्यान क्यों नहीं गया ? उन्होंने तो हाथ उठा उठा कर, ज़ोरों से, यह कहा है कि जो जिस भाव से भगवान् की शरण जाता है उसका ग्रहण वे उसी भाव से करते हैं। यदि यह ठीक है तो आपके धर्म-शास्त्र हमारे लिए रद्दी नहीं तो कोरे क़ाग़ज़ के टुकड़े अवश्य हैं। हमने सुन रक्खा है कि आप ही समस्त प्राणियों की आत्मा हैं। बता दीजिए, यह सच है या झूठ ? यदि सच है तो हमारे उस हार्दिक भाव के ग्रहण के लिए भी जिस पर आपका आक्षेप है, आपके विशाल हृदय में कुछ स्थान मिल सकता है या नहीं। बताइए, आप ही इसका निर्णय कर दीजिए। बोलिए, बोलिए—

यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग,
स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम्।
अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे
प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥

धर्म्मशास्त्रज्ञ बन कर आपने यही फरमाया है न कि पति, पुत्र, सुहृद् और अन्य कुटुम्बियों के विषय में स्त्रियों को अपना धर्म्म-पालन करना चाहिए—अर्थात् उनके प्रति स्त्रियों का जो कर्तव्य है उससे उन्हें च्युत न होना चाहिए ? यही न ? अच्छा तो अब आप यह भी फरमा दीजिए कि जितने देहधारी हैं उन सब के ईश्वर, उन सब की आत्मा, उन सब के बन्धु भी आप ही हैं या नहीं ? अगर हैं और अगर दिव्यदृष्टि वाले ऋषियों का यह सिद्धान्त भी सच है कि "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" तो बस हो चुका। तो हम अपने पति, पुत्र, सखा और सहोदर आदि की भावनायें सब आप ही में करती हैं। आप ही हमारे पिता, आप ही हमारे पुत्र, आप ही हमारे पति और आप ही हमारे सब कुछ हो। हमारी भावनाओं पर आपका क्या ज़ोर ! हम मिट्टी को यदि सुवर्ण समझ लें, पत्थर को यदि रत्न समझ लें, विष को यदि अमृत मान लें, तो इससे किसी का क्या हर्ज ? यदि आप तनुभृज्जनों की आत्मा हैं—यदि आप घट घट में व्यापक हैं—तो किसी के पिता, किसी के पति, किसी के पुत्र आप स्वयं ही बन चुके। फिर भला किस युक्ति से आप अपने में हमारी पति-भावना से छुटकारा पा सकते हैं ? आप अपनी धर्म्मज्ञता का अम्बर या आडम्बर समेटिए। उसे औरों के लिए रख छोड़िए—

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन्
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मास्म छिन्द्या
आशालतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥

हे कमललोचन, सर्वदर्शी विद्वान् तो आप ही को सब का भोक्ता और सब का ईश्वर समझते हैं। इसी से आप अन्तर्यामी आत्मा

ही से प्रेम करते हैं और उसी को हर तरह नित्यप्रति रिझाने की चेष्टा में रत रहते हैं। आपके मुक़ाबले में पति, सुत, बन्धु, आदि जन कोई चीज़ नहीं। उनको रिझाना व्यर्थ ही नहीं, नाना प्रकार के क्लेशों का कारण भी है। जिसने उन्हें रिझाया—जिसने उनसे विशेष प्रेम किया—वह तो भवबन्धन से सर्वथा ही बँध गया। उसका छुटकारा कहाँ? उसके लिए तो आप अपने को दुर्लभ ही समझिए। इससे आप अब दया कीजिए। हम आपको अपना परमाराध्य ईश्वर ही समझ कर आपकी सेवा में उपस्थित हुई हैं। आपकी इस प्रकार सेवा करने की लालसा चिरकाल से हमारे हृदय में जागृत है। उसे पूर्ण कर दीजिए। हमारी आशालता के टुकड़े टुकड़े न कर डालिए। हमें निराश न कीजिए। अपने विरुद् को सँभालिए। अपना पाण्डित्य और किसी मौक़े के लिए रख छोड़िए। हम तो अपना सर्वस्व—तन और मन—आपके अर्पण कर चुकीं। अतएव, अब, यथायोग्यं तथा कुरु।

कहने की ज़रूरत नहीं, गोपियों का अनन्य प्रेम और उनकी निर्व्याज भक्ति देख कर भगवान् कृष्ण ने उनकी सेवा को स्वीकार करके उन्हें कृतकृत्य कर दिया। परन्तु उन्होंने उन प्रेयसी गोपियों के साथ दिल्लगी करना फिर भी न छोड़ा। एक बार, उसी रात को, वे अचानक उनके बीच से अन्तर्धान हो गये। परन्तु वह दूसरा क़िस्सा है। इससे उसे जाने दीजिए।

श्रीकृष्ण की इस लीला पर कुछ लोगों के द्वारा बड़ी ही कड़ी टीकायें की गई हैं और अब तक की जाती हैं। स्वयं पुराणकारों ही ने गोपियों को "व्यभिचारिणी" बना कर फिर उनके इस कलङ्क का परिमार्जन किया है। इस लीला की असलियत क्या थी, यह जानना तो सर्वथैव असम्भव है। जो कुछ इस विषय में कहा जा सकता है केवल अनुमान और तर्क ही की सहायता से कहा जा

सकता है। पुराणों की रचना चाहे वेदव्यास ने की हो, चाहे बादरायण ने की हो, चाहे कृष्णद्वैपायन ने की हो, चाहे और किसी ने की हो, उनका कर्त्ता आत्मदर्शी ऋषि न भी हो तो बहुत बड़ा पण्डित या ज्ञानी ज़रूर ही रहा होगा। इस दशा में पुराणोक्तियों का खण्डन करना महज़ मामूली आदमियों का काम नहीं। फिर भी यदि कोई अनधिकारी पुरुष उन उक्तियों की प्रतिकूलता करने का साहस करेगा तो उसका कथन पागल का प्रलाप समझ लेने में क्या हर्ज ? अतएव कुछ कुछ इसी तरह का प्रलाप आप सुन लेने की उदारता दिखाइए। श्रीमद्भागवत के कर्ता का कहना है—

तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः॥

अर्थात् जारबुद्धि से भी श्रीकृष्ण परमात्मा की सङ्गति करने के कारण गोपियों के सांसारिक बन्धन क्षीण होगये और उन्होंने अपनी गुणमयी देह का त्याग कर दिया। इस पर निवेदन है कि गोपियाँ बहुत पहले ही से कृष्ण को ईश्वर, परमेश्वर, सर्वात्मा, परमात्मा कहती चली आ रही हैं। पुराणप्रणेता ने स्वयं ही उनके मुँह से ये बातें कहलाई हैं। फिर उनकी जार-बुद्धि कहाँ रही ? वे तो उन्हें परमात्मा ही समझ कर, उनके पास, उनकी सेवा, अपने मनोऽनुकूल करने के लिए, उपस्थित हुई थीं। परमात्मा होकर भी श्रीकृष्ण जार नहीं हो सकते। श्रीमद्भागवत में उनके कर्ता ने एक नहीं, अनेक स्थलों में, श्रीकृष्ण को परमपुरुष, आदि पुरुष, परमात्मा आदि शब्दों से याद किया है। परन्तु ऐसे स्थलों में भी उसने बेचारी गोपियों को, लगे हाथ, व्यभिचारदुष्ट भी कह डालने की कृपा की है।

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः।

इन वनवासिनी नारियों के कृष्ण-परमात्माविषयक अलौकिक भावों की प्रशंसा करके उन पर लौकिक लाञ्छन का भी आरोप करना कहाँ तक सङ्गत हो सकता है, इसका निर्णय यदि कोई ऋषि-मुनि ही करे तो वह सर्वमान्य हो सकता है। हमारी प्रार्थना या निवेदन को तो पाठक हमारा प्रलाप-मात्र समझें। हाँ, एक बात को याद रक्खें। व्यभिचारी शब्द के वि+अभि+चर को ध्यान में रख कर उसका धात्वर्थ न करें; लोक में उसका जो अर्थ समझा जाता है वही करें।

पुराणकारों ने श्रीकृष्ण को सर्वेश्वर, सर्वसाक्षी, सर्वान्तर्यामी, परमात्मा जब मान लिया तब भक्तों, प्रणयियों और दास्यभाव से प्रणोदित जनों के लिए क्या उन्होंने कुछ ऐसे भी नियम कर दिये हैं कि तुम इसी भाव से अपने उपास्य या इष्टदेव की भावना या भक्ति करो? जहाँ तक हम जानते हैं, ऐसा तो कोई नियम नहीं। जो भाव जिसे अच्छा लगता है उसी भाव से वह ईश्वर की अर्चना करता है। कोई उन्हें सखा समझता है, कोई उन्हें स्वामी समझता है, कोई उन्हें बालक समझता है। यहाँ तक कि किसी किसी ने शत्रु-भाव से भी उनकी उपासना की है। इस दशा में यदि गोपियों ने श्रीकृष्ण को पति-भाव से भजा तो उन पर कलङ्क का आरोप क्यों? या तो कृष्ण को यः कश्चित् साधारण मनुष्य समझिए या गोपियों पर वैसा आरोप करना छोड़िए। दोनों बातें साथ साथ नहीं हो सकतीं। यदि श्रीकृष्ण परमात्मा थे और गोपियों ने उन्हें पति-भाव से ग्रहण किया तो वे सर्वथा निर्दोष ही नहीं, मङ्गलमूर्ति समझी जाने योग्य और समस्त संसार की दृष्टि में पूजनीय हो चुकीं। आप श्रीमद्भागवत को सरसरी ही दृष्टि से पढ़िए। आप देखेंगे कि गोपियों ने अपने इष्टदेव को जहाँ प्रिय, प्रियतम, अङ्ग, सखा इत्यादि शब्दों से सम्बोधन किया है वहाँ

उन्हें वे बराबर ईश्वर, परमेश्वर और परमात्मा भी कहती आई हैं। अतएव उनके प्रेम के सम्बन्ध में दुर्भावना के लिए मुतलक़ ही जगह नहीं। जिस भगवद्गीता को परम पण्डित भी संसार में सबसे अधिक महत्व की पुस्तक समझते हैं उसी में कृष्ण भगवान् ने खुद ही कहा है—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अतएव गोपियों ने यदि पतिभाव से उनका भजन किया तो क्या कोई ग़ज़ब की बात होगई? उन्हें वही भाव प्रिय था। कंस और शिशुपाल आदि ने उन्हें और भाव से देखा था। कृष्ण ने उनके उस भाव का भी आदर ही किया और उन्हें वही फल दिया जो अन्य भाव के साधकों को प्राप्त होता है। परमात्मा होकर कृष्ण जब स्वयं ही कह रहे हैं कि जो जिस भाव से मेरा भजन करता है मैं उसे उसी भाव से ग्रहण करता हूँ तब शङ्का और सन्देह के लिए जगह कहाँ?

अच्छा, इन गोपियों के पिता, पुत्र, पति आदि कुटुम्बी कृष्ण को क्या समझते थे? जिस कुमार कृष्ण ने बड़े बड़े दैत्यों को न सही, अपने से अनेक गुने बली और पराक्रमी केशी, बक, अघ आदि प्राणियों को पछाड़ दिया; जिसने कालिय के सदृश महाविषधर विकराल नाग का दर्प-दलन कर दिया; और जिसने गोबर्द्धन-पर्वत को हाथ पर उठा लिया उसे यदि वे परमात्मा न समझते थे तो कोई बहुत बड़ा पराक्रमी, प्रभुतावान और महत्वशाली पुरुष ज़रूर ही समझते थे। तभी उन्होंने अपने कुटुम्ब की स्त्रियों को कृष्ण से प्रेम करते देख उनकी विशेष रोकटोंक नहीं की। यदि करते तो यह कदापि सम्भव न था कि सैकड़ों स्त्रियाँ उस रात को इस तरह अपने अपने

घरों से वन को दौड़ जातीं। शायद ही कुछ स्त्रियाँ उस रात को वहाँ जाने से रह गई होंगी। अच्छा, जो वहाँ गईं उनके लौटने पर भी, उनके सम्बन्ध में, कोई घटना या दुर्घटना नहीं हुई। कम से कम पुराणों में इसका उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया कि उन गोपियों को उनके कुटुम्बियों ने घर से निकाल दिया, या उनका त्याग कर दिया, या उन्हें और ही कोई सज़ा दी। इससे सूचित होता है कि गोपियों के कुटुम्बी भी श्रीकृष्ण को कोई अलौकिक पुरुष नहीं तो महात्मा ज़रूर ही समझते थे। अतएव अपनी स्त्रियों को उनसे प्रेम करते देखकर भी या तो उन्होंने उनके उस काम को बुरा नहीं समझा या यदि बुरा भी समझा तो उनके उस आचरण को देखा-अनदेखा कर दिया।

परन्तु यदि आप यही मान लें कि गोपियों का व्यवहार लोक-दृष्टि से निन्द्य था तो परलोक-दृष्टि से तो वह प्रशंसनीय ही माना जायगा। भगवद्भक्त अपनी धुन के पक्के होते हैं। उन्हें उनके निश्चित मार्ग से कोई हटा नहीं सकता। उन्हें निन्दा और स्तुति की परवा भी नहीं होती। वे रूढि और लोकाचार के दास नहीं होते। मीरा की क्या कम निन्दा हुई? उन पर क्या लाञ्छन नहीं लगाये गये? उनके कुटुम्बियों ने क्या उनका परित्याग नहीं किया? परन्तु यह सब होने पर भी मीरा ने यह कहना न छोड़ा—

मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरा न कोई।

कुछ कुछ यही दशा तुलसीदास, कबीर, चैतन्य, रैदास, पलटू आदि की भी हुई है। जो "आर्यपथ" कहा जाता है उसे छोड़ने वाले किस साधु पर कलंक नहीं लगा? कलंक लगाने और निष्ठुर आक्षेप करने वाले कुटुम्बियों का त्याग इन साधुओं ने तृणवत्

कर दिया; परन्तु अपने अभीष्ट पथ का परित्याग नहीं किया। इसीमें इन्होंने अपना कल्याण समझा और इनको यह समझ सर्वथा ठीक भी थी। तुलसीदास ने कहा भी है—

तज्यो पिता प्रह्लाद विभीषण बन्धु भरत महतारी।
बलि गुरु ब्रज बनितन पति त्यागो भे जग मङ्गलकारी॥

प्रेमी को पूरा अधिकार है कि वह अपने उपास्य देव का आराधन जिस भाव से चाहे करे। ज्ञानयोग और राजयोग आदि के द्वारा भगवान् का सान्निध्य या मोक्ष प्राप्त कर लेना साधारण साधकों का काम नहीं। वह मार्ग बहुत बहुत कठिन है। पर प्रेम और भक्ति का मार्ग सुलभ और सुखसाध्य है। आप नारद-भक्तिसूत्र देखिए। उनमें इस मार्ग की कितनी महिमा गाई गई है। गोपियों के लिए योगसाधन अथवा ज्ञान-प्राप्ति करना असम्भव नहीं तो महाकठिन अवश्य था। उनके लिए वही साधन उपयुक्त था जिसका आश्रय उन्होंने लिया। अतएव ये कल्याणी गोपिकायें ज्ञानियों और योगियों के भी वन्दन और प्रणमन के पात्र हैं।

ब्रज छोड़ आने पर एक बार श्रीकृष्ण ने इन गोपियों का समाचार मँगाना चाहा। एतदर्थ उन्होंने उद्धव को चुना। उन्हीं उद्धव को जिन्होंने श्रीमद्भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध में बेढब वेदान्त बूँका है और महाभारत में राजनीति पर बड़े बड़े लेक्चर झाड़े हैं। आप अपनी ज्ञान-गरिमा की गठरी बाँध कर ब्रज पहुँचे और लगे गोपियों को ज्ञानोपदेश करने। परन्तु वहाँ गोपियों ने उन्हें इतनी कड़ी फटकार बताई कि उनका ज्ञान-सागर बिलकुल ही सूख गया। गोपियों की प्रेम की आँधी में उनका ज्ञानयोग यहाँ तक उड़ गया कि वे उलटा उन्हीं "व्यभिचारदुष्ट" वनचरी नारियों के चेले हो गये। उन्हें अन्त में भगवान् से प्रार्थना करनी पड़ी—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथञ्च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

इन गोपियों के चरणों की रज वृन्दावन के जिन पेड़-पौधों और लता-गुल्मादिकों पर पड़ती है वे धन्य हैं—उनके सदृश पावन और कोई चीज़ नहीं। ये गोपियाँ साधारण स्त्रियाँ नहीं। अपने दुस्त्यज कुटुम्बियों और सर्व-सम्मत तथा परम्परागत पथ का परित्याग करके ये उस पथ से चलने वाली हैं जिसे श्रुतियाँ ढूँढ़ती फिरती हैं, पर उन्हें ढूँढ़े नहीं मिलता। इसी पथ की बदौलत ये भगवान् की पदवी को प्राप्त करने में समर्थ हुई हैं। अतएव मेरी कामना है कि मैं इसी व्रज के किसी पेड़, पौधे, लता या गुल्म के रूप में कभी जन्म लेकर अपने को कृतार्थ करूँ। उद्धव की यह उक्ति सुनकर कौन ऐसा भगवत्प्रेमी है जिसका शरीर कण्टकित और कण्ठ गद्गद न हो जाय?

हमने अपने इस जन्म में न तो कभी साधु-समागम किया, न किसी सुकृत ही का सम्पादन किया और न किसी तरह का और ही कोई सत्कर्म किया। इस कारण उद्धव के सदृश कामना करने के हम अधिकारी नहीं। अतएव हमारी प्रार्थना इतनी ही है कि यदि पूर्वजन्मों में हमने कभी कोई सत्कार्य्य किया हो तो भगवान् हमें व्रजमण्डल के करीर का काँटा ही बना देने की कृपा करें।

[जनवरी १९२७]

जगद्धर-भट्ट का दीनाक्रन्दन

[२]

काश्मीर के महाकवि जगद्धर-भट्ट कृत स्तुतिकुसुमाञ्जलि बड़ी ही भव्य पुस्तक है। इस कुसुमाञ्जलि में ३८ स्तोत्र हैं। उन सब की श्लोक-संख्या १, ४०० के ऊपर है। किसी स्तोत्र का विस्तार बड़ा है, किसी का कम। कुछ स्तोत्रों में तो सौ सौ डेढ़ डेढ सौ श्लोक हैं। जगद्धर महाकवि थे, परन्तु उन्होंने अपनी कवित्व-शक्ति का उपयोग केवल शिव-स्तुति करने में किया; और किसी विषय पर उन्होंने कविता नहीं की। यह बात उनकी इस पुस्तक के अन्त की उक्तियों से स्पष्ट मालूम होती है। उन्होंने वाग्देवी को सम्बोधन करके कहा है कि तू भीत और त्रस्त हो रही होगी कि और कवियों के सदृश कहीं यह भी छोटे छोटे नरेशों और ग्रामपतियों की मिथ्या प्रशंसा करके मुझे और भी अधिक कलुषित न करे। तू अपने इस डर को छोड़ दे। आनन्द से प्रसन्न-वदन हो जा। देख, मैंने तेरा प्रयोग शिवस्तुति में करके तुझे कृतार्थ कर दिया।

संस्कृत-भाषा में स्तुति-विषयक साहित्य बहुत बड़ा है। सैकड़ों नहीं, हज़ारों स्तोत्र, भिन्न भिन्न देवों की स्तुति में, पाये जाते हैं। परन्तु जो रस, जो भाव और जो उक्तिवैलक्षण्य जगद्धर-भट्ट की कविता में है वह हमें तो कहीं भी अन्यत्र नहीं मिला। इनकी कविता का बार बार पाठ करने पर भी जी नहीं ऊबता। यही मन में आता है कि सदा ही उसका पाठ करते रहें। एकान्त में आँखें बन्द करके भक्ति-भाव-पूर्वक इनकी स्तुतियों का पाठ करने से जिस आनन्द की प्राप्ति होती है उसका अन्दाज़ा सहृदय भावुक ही कर सकते हैं। यह सम्भव ही नहीं कि पाठक सहृदय हो और उसके नेत्रों से आँसू न टपकने लगें। जगद्धर ने स्तुति-

कुसुमाञ्जलि के अन्त में इन स्तोत्रों की सरसता के विषय में जो कुछ कहा है वह अक्षरशः सत्य है। उनका कथन है—

इमां घनश्रेणिमिवोन्मुखः शिखी
चकोरकः कार्तिकचन्द्रिकामिव।
रथाङ्गनामा तरणेरिव त्विषं
स्तवावलीं वीक्ष्य न कः प्रमोदते॥

वर्षाकालीन मेघमाला को देख कर, आकाश की ओर उद्ग्रीव हुआ मयूर आनन्द से जैसे पुलकित हो उठता है; कार्तिक के महीने में पूर्ण चन्द्र की चन्द्रिका के अवलोकन से चकोर पक्षी जैसे प्रमोदमत्त हो उठता है; प्रातःकाल सूर्य्य की प्रभा के दर्शन करके चक्रवाक का चित्त जैसे आनन्द-मग्न हो उठता है—वैसे ही मेरी इस स्तवावली का पाठ करके ऐसा कौन सचेतन जन होगा जो इसके अलौकिक रस और सौन्दर्य्य पर मुग्ध न हो जाय ?

मनस्विनीनामिव साचि वीक्षितं
स्तनन्धयानामिव मुग्धजल्पितम्।
अवश्यमासां मधु सूक्तिवीरुधां
मनीषिणां मानसमार्द्रयिष्यति॥

मानिनी कुल-कामिनियों के कुटिल कटाक्ष जिस तरह कामुकों के हृदय को आर्द्र कर देते हैं और शिशुओं के मधुर वचन जिस तरह मनुष्यों के हृदय को हिला देते हैं उसी तरह मेरी इन सुन्दर उक्तिरूपिणी लताओं के फूलों का मधु, अर्थात् रसायन, भी सहृदय जनों के अन्तःकरण को अवश्य ही आर्द्र किये बिना न रहेगा।

बहुत ठीक। जगद्धर-भट्ट के प्रयुक्त "अवश्य" शब्द को तो देखिए। उन्हें विश्वास था कि उनकी सूक्तियाँ सरस-हृदयों के हृदय पर असर किये बिना न रहेंगी। उनकी यह भावना सोलहो आने

सच है। सहृदयों को रुलाने वाली—उनके हृदयों को आर्द्र करने वाली—जगद्धर की कविता के कुछ नमूने इस लेख में दिये जाते हैं।

स्तुति कुसुमाञ्जलि के दसवें स्तोत्र का नाम है—करुणाक्रन्दन! उसमें ६१ पद्य हैं। उसमें उसके नामानुसार कवि ने बड़ा ही करुणाजनक क्रन्दन किया है। स्तुति, प्रशंसा, उपालम्भ—सभी कुछ करके उसने शिव जी के हृदय में करुणा उत्पन्न करने की चेष्टा की है। उसके आगे वाले ग्यारहवें स्तोत्र का नाम उसने रक्खा है—दीनाक्रन्दन। उसकी पद्य-संख्या १४१ है। उसमें भी साद्यन्त रोना ही रोना है। कुछ पद्य तो उसके इतने कारुणिक हैं कि कठोर-हृदयों को भी हिलाने की शक्ति रखते हैं।

करुणाक्रन्दनस्तोत्र जब समाप्ति को पहुँचने पर हुआ तब जगद्धर-भट्ट कहते हैं।

अज्ञानान्धमबान्धवं कवलितं रक्षोभिरक्षाभिधैः
क्षिप्तं मोहमहान्धकूपकुहरे दुर्हृद्भिराभ्यन्तरैः।
क्रन्दन्तं शरणागतं गतधृतिं सर्वापदामास्पदं
मा मा मुञ्च महेश पेशलदृशा सत्रासमाश्वासय॥

इसका भावार्थ समझ में आवे चाहे न आवे, इसकी शब्द-स्थापना, इसका शब्द-सौष्ठव, इसके सानुप्रास-पदों से ही बहुत कुछ आनन्द की प्राप्ति हो जाती है और बार बार पढ़ने को जी चाहता है। बड़ी ही कोमल रचना—बड़ी ही कोमल-कान्त-पदावली है। इसका अर्थ—

मैं अज्ञान से अंधा हो रहा हूँ; मेरी सदसद्विचार-शक्ति जाती रही है। बन्धु-बान्धवों से मैं रहित हूँ; मेरा कोई सहायक नहीं; मुझे आश्वासन देने वाला कोई नहीं! इन्द्रिय-नामधारी राक्षस

मुझे खाये जाते हैं। शरीरान्तर्गत काम-क्रोधादि शत्रुओं ने मुझे मोहरूपी महा अन्धे कुवे के भीतरी गढ़े में ढकेल दिया है। इसी से मैं वहाँ पड़ा हुआ रो रहा हूँ। मेरा धीरज छूट गया है। जन्म-जरा-मरण-रूपिणी सारी आपदाओं ने मुझे घेर रक्खा है। मैं बेहद विकल हूँ; बहुत घबरा गया हूँ। अतएव आपकी शरण आया हूँ। मुझे और कहीं ठिकाना नहीं। जैसे बने, मेरी रक्षा कीजिए। मुझे छोड़िए नहीं। मुझ भयार्त और त्रस्त पापी की ओर अपनी कोमल और करुणापूर्ण दृष्टि से देखकर मुझे कुछ तो दिलासा दीजिए।

मगर उधर से जब कुछ भी दिलासा-उलासा न मिला तब आप फ़रमाते हैं—

यद्विश्वोद्धरणक्षमाप्यशरणत्राणैकशीलापि ते
मामार्त्तं दृगुपेक्षते स महिमा दुष्टस्य मे कर्म्मणः।
देव्यां दिव्यतमैः पयोधरभृतैः पृथ्वीं पृणत्यां कणा
श्छित्राश्चेन्न मुखे पतन्ति शिखिनः किं वाच्यमेतद्दिवः।

आपकी दृष्टि कुछ ऐसी वैसी नहीं। वह मेरा ही नहीं, सारे विश्व तक का उद्धार कर सकती है। उसने तो अशरणों को शरण देने—जिनका कहीं ठिकाना नहीं उनकी भी रक्षा करने—का बीड़ा ही उठा रक्खा है। ऐसा होने पर भी वह जो मेरी उपेक्षा कर रही है, सो यह उसकी कृपणता नहीं। इसमें उसका कोई दोष नहीं। यह सारा दोष मेरे ही कुकर्मों का है। जो आकाश मेघों के द्वारा अमृतवत् जलराशि की वृष्टि करके सारी पृथ्वी को आप्लावित कर देता है उसकी उस वृष्टि के दो चार बूँद भी यदि मयूर के मुख में न पड़ें तो इसमें उसका क्या दोष? दोष उस अभागे मयूर ही का समझना चाहिए।

इस प्रकार रो-धो कर जगद्धर-भट्ट ने अपना करुणा-क्रन्दन समाप्त किया। तदनन्तर उन्होंने दीनाक्रन्दन का आरम्भ करके अपनी दीनता दिखाने का उपक्रम किया। १३२ श्लोकों तक उन्होंने अपना यह क्रम जारी रक्खा। जब स्तोत्र समाप्त होने को आया तब आपने अपने क्रन्दन की अति कर दी। इस स्तोत्र के पिछले कुछ श्लोक, चुन चुन कर, नीचे दिये जाते हैं—

नाथ प्राथमिकं विवेकरहितं तिर्यग्वदस्तं वय-
स्तारुण्यं विहतं विराधितवधूविस्रम्भणारम्भणैः।
स्वामिन् सम्प्रति जर्जरस्य जरसा यावन्न धावन्नयं
मृत्युः कर्णमुपैति तावदवशं पादाश्रितं पाहि माम्॥

नाथ, मैं अपनी दुर्गति का क्या हाल बयान करूँ। शैशवावस्था तो मेरी खेल-कूद में गई। उस वय में तो कार्य्याकार्य का कुछ भी ज्ञान मुझे न था। इस कारण पशु-पक्षियों के सदृश खाने, पीने और दौड़ने-धूपने में मैंने उसे खो दिया। उसके बाद यौवन आया। उस वय का नाश मैंने प्रणय-कुपित प्रेयसी नारियों को प्रसन्न करने—उन्हें मनाने-पथाने—में कर दिया। अब, इस समय, मैं जरावस्था को प्राप्त हो गया हूँ। शरीर मेरा जीर्ण हो गया है; अङ्ग-प्रत्यङ्ग शिथिल हो गये हैं। मौत दौड़ी चली आ रही है। अतएव, जब तक उसके आक्रमण की आवाज़ मेरे कान तक नहीं पहुँचती तभी तक मेरे रोग का इलाज हो सकता है। आपके पैरों पर पड़े हुए मुझ विवश और विह्वल को उसके आगमन के पहले ही आप बचा लीजिए। दौड़िए। देर मत कीजिए।

आसीद्यावदखर्वगर्वकरणग्रामाभिरामाकृति-
स्तावन्मोहतमोहतेन न मया श्वभ्रं पुरः प्रेक्षितम्।
अद्याकस्मिकपातकातरमतिः कं प्रार्थये कं श्रये
किं शक्नोमि करोमि किं कुरु कृपामात्मद्रुहं पाहि माम्।

जब तक मेरी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण न हुई थी—जब तक वे अपनी स्वाभाविक अवस्था में थीं—तब तक मेरे गर्व का ठिकाना न था। मैं अपने को बड़ा ही अभिरामाकृति—बड़ा ही रूपवान्—समझता था। उस समय अज्ञानरूपी अन्धकार में पड़ जाने से मैं अन्धा हो रहा था, और, अन्धे को आगे की भी चीज़ नहीं सूझती। इस कारण अपनी आँखों के सामने ही विद्यमान ख़न्दक़ मुझे न दिखाई दिया। फल यह हुआ कि मैं उसमें अकस्मात् गिर गया और अब अत्यन्त कातर हुआ रो रहा हूँ। हाय! अब इस समय मैं किसे पुकारूँ? किसका आसरा करूँ? किससे प्रार्थना करूँ? कुछ भी मुझे नहीं सूझता। भगवन्, अब आप ही मेरा उद्धार करें तो हो सकता है। कृपा कर कीजिए। मुझ आत्मशत्रु—मुझ आत्मद्रोही—को बचा लीजिए।

जात्यन्धः पथि संकटे प्रतिचरन्हस्तावलम्बं विना
यातश्चेदवटे निपत्य विपदं तत्रापराधोऽस्य कः।
धिग्धिङ्मां सति शास्त्रचक्षुषि सति प्रज्ञाप्रदीपे सति
स्निग्धे स्वामिनि मार्गदर्शिनि शठः श्वभ्रे पतत्येव यः॥

कल्पना कीजिए कि किसी जन्मान्ध मनुष्य को किसी बड़े ही ज़रूरी काम से एक महाबीहड़ मार्ग से जाना पड़ा। अभाग्यवश उसे हाथ का सहारा देकर कोई उस मार्ग से लिवा ले जाने वाला भी न मिला। बिना मार्ग-दर्शक ही के उसे उस रास्ते जाना पड़ा। चलते चलते राह में उसे एक गहरा गर्त या प्रपात मिला। उसी में गिर कर वह मर गया। इस दशा में उस बेचारे का क्या अपराध? क्या उसे कोई दोष दे सकता है? परन्तु मुझ शठ को तो देखिए। मैं अन्धा नहीं। दो स्वाभाविक आँखों के सिवा तीसरी शास्त्ररूपी आँख भी मुझे प्राप्त है। बुद्धि-विवेकरूपी दीपक भी मेरे हाथ में है। आपके सदृश दयामय स्वामी मेरे मार्गदर्शी भी मौजूद हैं।

फिर भी मैं दौड़ कर गंभीर गर्त में जा गिरा हूँ। अतएव मुझ महामूढ़ को धिक्कार ! बार बार धिक्कार !

त्राता यत्र न कश्चिदस्ति विषमे तत्र प्रहर्तुं पथि
द्रोग्धारो यदि जाग्रति प्रतिविधिः कस्तत्र शक्यक्रियः।
यत्र त्वं करुणार्णवस्त्रिभुवनत्राणप्रवीणः प्रभु-
स्तत्रापि प्रहरन्ति चेत्परिभवः कस्यैष गर्हावहः॥

मान लीजिए कि किसी को किसी ऐसे विषम मार्ग से जाना है जहाँ वधिकों, चोरों या डाकुओं का बड़ा भय है और रक्षा का कोई उपाय नहीं। इस दशा में यदि पथिक लुट जाय या जान से हाथ धो बैठे तो कोई क्या करे ? क्योंकि ऐसी आपदाओं का कुछ भी प्रतिकार नहीं। परन्तु करुणा के महासागर और एक ही का नहीं, तीनों भुवनों का परित्राण करने में परम प्रवीण आप जिस पथ के मालिक और रक्षक हों उसी पथ पर गमन करनेवाला पथिक यदि लूट लिया जाय या जान से मार डाला जाय तो इसमें लाघव किसका ? इसमें निन्दा किसकी ? उस पथिक की नहीं। इस पराभव का उत्तरदाता वह कदापि नहीं। उत्तरदाता तो रक्षक ही समझा जायगा और यह पराभव भी उसी का समझा जायगा।

किं शक्तेन न यस्य पूर्णकरुणापीयूषसिक्तं मनः
किं वा तेन कृपावता परहितं कर्तुं समर्थो न यः।
शक्तिश्चास्ति कृपा च ते यमभयाद्भीतोऽपि दीनोजनः
प्राप्तो निःशरणः पुरः परमतः स्वामी स्वयं ज्ञास्यति॥

जिस पुरुष का मन पूर्ण-करुणारूप पीयूष से आर्द्र नहीं उसका शक्तिमान् होना बिलकुल ही बेकार है और कृपालु होकर भी जो परार्थ-साधन न कर सका—जो परहित की सिद्धि करने में समर्थ न हो सका—उसकी वह कृपालुता भी बेकार है। आप में तो

शक्ति भी है और कृपा भी है। इधर दीनातिदीन मैं, यमराज के भय से भीत हुआ, आपकी शरण आया हूँ और आपके सामने उपस्थित हूँ। इस दशा में मुझ शरणहीन के साथ आपको कैसा सलूक करना चाहिए, यह आप स्वयं ही जानते होंगे। मुझे उसका उल्लेख करने की ज़रूरत नहीं।

आर्तिः शल्यनिभा दुनोति हृदयं नो यावदाविष्कृता
सूते लाघवमेव केवलमियं व्यक्ता खलस्याग्रतः।
तस्मात्सर्वविदः कृपामृतनिधेरावेदिता सा विभो-
र्यद्युक्तं कृतमेव तत्परमतः स्वामी स्वयं ज्ञास्यति॥

जन्म-जरा-मरण आदि से सम्भूत आर्ति की कथा जब तक मुँह से न कह डाली जाय तब तक वह हृदय को ऐसी पीड़ा पहुँचाती है जैसी कि कलेजे के भीतर तीर छिद जाने से अनुभूत होती है। परन्तु किसी सहृदय और समर्थ के सामने ही यह कथा कही जाती है, क्योंकि तभी उस आर्ति की वेदना कुछ कम हो सकती है। दुर्जन और हृदयहीन के सामने कहने से लाभ तो कुछ होता नहीं, उलटा लाघव होता है—उलटा अपनी हँसी होती है। इसी से आपको सर्वसमर्थ, सर्वज्ञ और कृपामृत का महासागर समझ कर मैंने अपनी आर्ति की कथा आपको सुना दी। बस मेरा कर्तव्य होगया। जो कुछ मुनासिब था वह मैंने कर दिया। इसके आगे क्या करना चाहिए, यह आप जानें और आपका काम। मुझे विश्वास है कि आपसे अपना अगला कर्तव्य छिपा नहीं। उसे आप खूब समझते होंगे।

विश्रान्तिर्न क्वचिदपि विपद्ग्रीष्मभीष्मोष्मतप्ते
चित्ते वित्ते गलति फलति प्राक्प्रवृत्ते कुवृत्ते।
तेनात्यन्धं सपदि पतितं दीर्घदुःखान्धकूपे
मामुद्धर्तुं प्रभवति भव त्वां दयाब्धिं विना कः॥

विपत्तिरूपी ग्रीष्म की भीषण ऊष्मा से तपे हुए मेरे मन को कहीं भी, किसी तरह, चैन नहीं। टका मेरे पास नहीं; धन-धान्य सभी नष्ट होगया। पूर्व-जन्मों में उपार्जित दुर्वृत्तियाँ, इस जन्म में, अब अपना कुफल ख़ूब ही दिखा रही हैं। इन आपत्ति-परम्पराओं के कारण अन्धा हुआ मैं दीर्घ-दुःख-रूपी अन्धकूप में गिर गया हूँ। वहाँ से मुझे निकालने का सामर्थ्य आपके सिवा और किसी में नहीं। क्योंकि आप करुणा-सागर हैं—आप दया के समुद्र हैं। आपको छोड़ कर और किससे मैं अपने उद्धार के लिए प्रार्थना करूँ। हे भव, इन घोर विपत्तियों से मेरा छुटकारा यदि कोई कर सकता है तो एक-मात्र आप ही कर सकते हैं।

जानुभ्यामुपसृत्य रुग्णचरणः को मेरुमारोहति
श्यामाकामुकबिम्बमम्बरतलादुत्प्लुत्य गृह्णाति कः।
को वा बालिशभाषितैः प्रभवति प्राप्तुं प्रसादं प्रभो-
रित्यन्तर्विमृशन्नपीश्वर बलादात्थास्मि वाचालितः॥

क्या कभी किसी ने किसी लँगड़े को घुटनों के बल चल कर सुमेरु-पर्वत के शिखर तक पहुँचते देखा है? अथवा क्या कभी किसी ने किसी यः कश्चित् मनुष्य को उछल कर आकाश से निशानारी के कामुक चन्द्रमा के बिम्ब को खींच लाते देखा है? किसी ने नहीं। यह बात सम्भव ही नहीं। इसी तरह मैं मूढ़ मनुष्य इन स्तोत्रों में किये गये मूर्खतापूर्ण बकवाद से यदि आपको प्रसन्न करने—आपका प्रसाद पाने—की चेष्टा करूँ तो मेरी इस चेष्टा के भी सफल होने की सम्भावना नहीं। हे ईश्वर, मैं यह अच्छी तरह जानता हूँ। मैं जानता हूँ कि इस तरह के नीरस वाक्य-विलास किं वा कोरे प्रलाप से मैं आपको प्रसन्न नहीं कर सकता। पर करूँ तो क्या करूँ। मैं वेदनाओं से विकल हो रहा

हूँ। दुःखों से छटपटा रहा हूँ। वही मुझसे ज़बरदस्ती वाचालता करा रहे हैं—वही मुझे बोलने को मजबूर कर रहे हैं।

धत्ते पौण्ड्रकशर्करापि कटुतां कण्ठे चिरं चर्विता
वैरस्यं वरनायिकापि कुरुते सक्त्या भृशं सेविता।
उद्वेगं गगनापगापि जनयत्यन्तर्मुहुर्मज्जनाद्
विश्रद्धां मधुरापि पुष्यति कथा दीर्घेति विश्रम्यते॥

बहुत दिनों तक बराबर खाते रहने के कारण, अत्यन्त मीठे पौंडे के रस से बनी हुई शर्करा से भी अरुचि हो जाती है। अलौकिक सुन्दरी नायिका का भी अत्यन्त सेवन, कुछ काल के उपरान्त, नीरस हो जाता है; उससे भी तबीयत हट जाती है। भगवती भागीरथी के भी जल में बहुत गोते लगाने—उसमें बार बार स्नान करने—से मन में उद्वेग उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता। इसी तरह महामधुर और मनोरञ्जक भी कथा, यदि बहुत बढ़ा कर कही जाय तो, उससे सुनने वाले की श्रद्धा ज़रूर जाती रहती है। यही समझ कर मैं अपनी इस करुण-कथा को अब समाप्त करना चाहता हूँ।

इत्थं तत्तदनन्तसन्ततलसच्चिन्ताशताविर्भव-
व्यामोहव्यसनावसन्नमनसा दीनं यदाक्रन्दितम्।
तत्कारुण्यनिधे निधेहि हृदये त्वं ह्यन्तरात्माखिलं
वेत्स्यन्तःस्थमतोऽर्हसि प्रणयिनः क्षन्तुं ममातिक्रमम्॥

हे करुणासागर! मुझे एक दो चिन्ताएं नहीं सता रहीं। मैं तो सैकड़ों चिन्ताओं का शिकार हो रहा हूँ। फिर वे चिन्ताएं ऐसी नहीं जो दो चार घड़ियों या दो चार दिनों तक ही मुझे सताती हों। नहीं, उनके आक्रमण तो मुझ पर सतत ही जारी रहते हैं। अतएव उनके कारण मेरे हृदय में जो महामोह की आँधी आ रही

है उसने मेरे मन को बहुत ही खिन्न और अवसन्न कर दिया है। मेरा यह दीनाक्रन्दन उसी का परिणाम है। सो आप दया करके मेरे इस रोने-धोने को सुन कर जो कुछ उचित हो कीजिए। इससे अधिक मैं और क्या कहूँ। आप तो प्राणियों की अन्तरात्मा हैं; सब के मन की बात जानते हैं। अतएव मुझ दास—मुझ प्रणयी—की इस वाचालतारूप ढिठाई को क्षमा कर दीजिए।

भगवन् सदाशिव, जगद्धर-भट्ट की कही हुई इन उक्तियों में से एक उक्ति के कुछ अंश को बाद देकर और सब मेरी तरफ़ से भी कही हुई समझने की कृपा कीजिए। उस एक उक्ति के उस अंश से मेरा मतलब शास्त्ररूपी तीसरे नेत्र से है। जगद्धर के वह तीसरा नेत्र था। पर मैं उससे सर्वथा वञ्चित हूँ। अतएव मैं आपकी कुछ अधिक कृपा का अधिकारी हूँ या नहीं, इसका फ़ैसला आप ही कीजिए।

[जुलाई १९२६]

भारतीय चित्रकला

[३]

कविता, सङ्गीत, चित्रकला और मूर्तिनिर्माण-विद्या की गिनती ललित-कलाओं में है। असभ्य, अशिक्षित और असंस्कृत देशों में इन कलाओं का उत्थान नहीं होता। जिन कृतविद्य और शिक्षा-सम्पन्न देशों के निवासियों के हृदय, मानवीय विकारों के अनुभव से, संस्कृत और सुपरिमार्जित हो जाते हैं वही इन कलाओं के निर्म्माण की ओर आकृष्ट होते और वही इनसे परमानन्द की प्राप्ति भी कर सकते हैं। परन्तु ऐसे देशों में एक प्रकार के और भी सौभाग्यशाली जन जन्म पाते हैं जो इन कलाओं के ज्ञाताओं और निर्माणकर्ताओं से भी अधिक सरसहृदय होते हैं। वे इन कलाविदों की कृतियों से कभी कभी उस अलौकिक आनन्द की प्राप्ति करते हैं जो उनकी सृष्टि करनेवालों को भी नसीब नहीं। वे व्यक्ति कलावेत्ताओं के द्वारा निर्मित कलाओं के नमूनों में ऐसी ऐसी बारीकियाँ खोज निकालते हैं जिनका अनुभव स्वयं निर्म्माताओं को भी नहीं होता, इतर जनों की तो बात ही नहीं। मनुष्य-हृदय के सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा गुप्त भावों को हृदयङ्गम करने-वाले ये पिछले भव्य भावुक धन्य हैं। इनके संवेद्य भावों का यथेष्ट अभिनन्दन इन्हीं के समकक्ष अन्य सहृदय सज्जन कर सकते हैं, दूसरे नहीं।

चित्रकारों और कवियों के कार्य्य में विलक्षण साम्य या साधर्म्य होता है। कवि अपने शब्दचित्र द्वारा प्रकृति के प्रसार और मानवी हृदयों के विकार का प्रदर्शन करता है और चित्रकार उन्हीं बातों का प्रदर्शन अपने चित्रपट के द्वारा करता है। दोनों में भेद केवल इतना ही होता है कि कवि की कृति दूसरों के लिए श्रोतृगम्य होती

है और चित्रकार की कृति चक्षुरिन्द्रियगम्य। एक से प्राप्त आनन्द का अनुभव कान के द्वारा होता है; दूसरे का आँख के द्वारा। पर तल्लीनता और आनन्दोन्मेष, जो आत्मा का धर्म्म है, दोनों की कृतियों से एक ही सा होता है।

कवि अपनी ही आत्मा को प्रसन्न करने के लिए अपना काम नहीं करते। तुलसीदास आदि भक्त-कवियों को आप छोड़ दीजिए। चित्रकार भी अपनी कृति से अन्यों ही को अधिकतर आनन्दित करना चाहते हैं। ये लोकोत्तर पुण्य-पुरुष स्वार्थी नहीं होते। ये परार्थ को स्वार्थ से अधिक श्रेयस्कर समझते हैं। अतएव इनके ललित और कोमल कार्य्य-कलाप से जितने ही अधिक लोगों का मनोरञ्जन हो, समझना चाहिए कि ये अपनी कृति के उद्देश में उतने ही अधिक सफलकाम हुए। इस दशा में यह स्पष्ट है कि इनके कार्य्यों से आनन्द का यथेष्ट अनुभव वही कर सकते हैं जिनका हृदय इन्हीं के सदृश, किम्बहुना इनसे भी अधिक, सुसंस्कृत, कोमल और भावग्राही होता है। इन भावग्राही जनों के हृदय में सहृदयता का अंश ख़ूब अधिक होता है। बात यह है कि कवि और चित्रकार तो स्वयं ही जानते हैं कि उन्होंने अपनी अमुक कृति में अमुक भाव या भावों का विकास किया है। पर दर्शक या श्रोता इस बात को नहीं जानता। उसे तो अपनी प्रखर भावग्राहिणी शक्ति ही से उस भाव को ढूँढ़ निकालना पड़ता है। अतएव, इस दृष्टि से, कवि और चित्रकार की अपेक्षा सरसहृदय श्रोता या दर्शक विशेष प्रशंसनीय हैं। इसके कुछ उदाहरण लीजिए—

कालिदास ने अपने मेघदूत में एक मेघ के द्वारा यक्ष की प्रेयसी को सन्देश भिजवाया है। उस सन्देश का एक अंश है—

त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैःशिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम् ।
अस्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः ॥

यक्ष कहता है—तुझ प्रणयकुपित प्रेयसी का चित्र मैं गैरिक (गेरू) से बनाता हूँ। तदनन्तर जब तक मैं अपना भी चित्र वहीं बनाकर, तुझे मनाने के लिए, तेरे पैरों पर अपना सिर रखना चाहता हूँ, तब तक मेरे आँसुओं से मेरी दृष्टि का लोप ही हो जाता है। हाय! चित्र में भी हम दोनों का समागम नहीं होने पाता।

एक साधारण संस्कृतज्ञ से किसी ने पूछा कि, पण्डित जी, इस श्लोक में कालिदास ने गैरिक से चित्र बनाने का उल्लेख क्यों किया? उत्तर में पण्डित जी ने फरमाया कि पहाड़ पर क्या क़लम-दावात रक्खी थी, अथवा क्या वहाँ रङ्गों का बक्स और ब्रुश धरा था? गेरू ही वहाँ सुलभ थी। इसी से उसका प्रयोग किया गया। इस पर यह एतराज़ हुआ कि महाराज, पहाड़ों ही से कोयला, खड़िया, कासीस और शिलाजीत भी तो प्राप्त होता है। गेरू में ऐसी कौन सी विशेषता थी जो उसी से चित्र बनाया गया। इसका जवाब पण्डित जी न दे सके। पर दैवयोग से वहीं मिस्टर एन० सी० मेहता के सदृश एक चित्रकला-भिज्ञ रसिक शिरोमणि बैठे हुए थे। उनसे न रहा गया। वे बोल उठे—कुपित मनुष्य, चाहे वह स्त्री हो चाहे पुरुष और चाहे उसके कोप का कारण प्रणय हो, चाहे अपमान, चाहे और कुछ, उसका चेहरा तमतमा उठता है और उस पर अरुणिमा छा जाती है। उसे प्रकट करने के लिए अरुणवर्ण गैरिक ही का प्रयोग उचित था।

इससे खड़िया और कोयले से काम न लेकर कालिदास ने गेरू ढूँढने की तकलीफ़ गवारा की। कहने की आवश्यकता नहीं, इस पिछले उत्तरदाता का हृदय सरसता से लबालब भरा था। इसीसे उसने उस ख़ूबी का पता लगा लिया जो शायद कालिदास के भी ध्यान में न आई होगी।

एक और उदाहरण लीजिए। किसी की उक्ति है—

> इयं सन्ध्या दूरादहमुपगतो हन्त मलयात्
> तवैकान्ते गेहे तरुणि बत नेष्यामि रजनीम्।
> समीरेणोक्तैवं नवकुसुमिता चूतलतिका
> धुनाना मूर्द्धानं नहि नहि नहीत्येव कुरुते॥

वसन्त ऋतु थी। शाम हो गई थी। ऐसे समय में फूले हुए आम की लता से मलयानिल कहता है—मैं बहुत दूर, मलयाचल, से आ रहा हूँ। थक गया हूँ। वेला कुवेला है। हे तरुणी आम्र-लते! अपने इस एकान्त घर में मुझे रात भर पड़ा रहने दे। इसके उत्तर में वह लतिका, अपना सिर तीन दफ़े हिला हिला कर कहती है—नहीं, नहीं, नहीं, मैं ऐसा नहीं कर सकती।

एक अरसिक से इस नकारात्मक निषेध का कारण पूछा गया तो उसने बताया कि कोई भी तरुण स्त्री, अपने एकान्त घर में, रात को, किसी अपरिचित पुरुष को रहने को आज्ञा कदापि नहीं दे सकती। लोकाचार यही है। इससे च्युत होनेवाली कुलकामिनी कलङ्कित समझी जाती है। इसी से आम्रलता ने पवन को अपने घर नहीं ठहरने दिया। यह उत्तर एक काव्य-कला-मर्म्मज्ञ के हृदय में पैने बाण की तरह घुस गया। उसने कहा—आपने अर्थ का अनर्थ कर डाला। आम्रलता का अभिप्राय तो इसका बिलकुल ही उलटा था। उसने तो उस रसिक पवन-पथिक को ठहराना

स्वीकार कर लिया। उसने तीन दिन बाद आने की अवधि नियत कर दी। इसका सङ्केत उसने तीन ही बार न, न, न कह कर कर दिया। इसका कारण भी उसने, अपने को नवकुसुमित कह कर, प्रकट कर दिया। सच पूछिए तो यह दूसरा अर्थ उन्हीं संस्कृत-हृदयों के ध्यान में आ सकता है जिनको परमात्मा ने सरसता और सहृदयता प्रदान की है।

चित्रों के विषय में भी यही बात चरितार्थ है। एक प्रवासी पति ने अपनी पत्नी के पास अपना चित्र भेजा। उसे देख कर उसका नन्हा सा, तीन वर्ष का बच्चा, सिहर उठा। वह अपनी माँ की गोद में यह कह कर छिप रहा कि बाबा गुस्से में हैं। और सचमुच वह चित्र उसी भाव का व्यञ्जक था।

सुनते हैं, एक स्त्री के चित्र में किसी भी अङ्ग का विशेष उपचय न दिखाया जाने पर भी, चित्र-कला के एक मर्म्मज्ञ ने, केवल उसके मुखगत भावों से उसकी सगर्भावस्था ताड़ ली थी।

बनारस में एक रईस साहब चित्रकला के ज्ञाता हैं। उनके पास चित्रों का संग्रह भी अच्छा है। एक दिन वे हमें अपने कुछ चित्र दिखाने लगे। हम ठहरे इस कला में बिलकुल ही कोरे। अतएव दो चार मामूली आलोचनात्मक बातों से उनकी प्रशंसा करके हम चुप हो रहे। इस पर जब उन्होंने कुछ चित्रों की ख़ूबियाँ बयान कीं तब हम स्तब्ध हो गये। हमें तब जाकर कहीं यह अच्छी तरह मालूम हुआ कि चित्रों का पारखी होने के लिए कुछ लोकोत्तर गुणों की जो आवश्यकता बताई जाती है वह सर्वथा सच है।

भारत में सङ्गीत, चित्रकला और मूर्ति-निर्माण का प्रारम्भ कब से हुआ, यह तो ठीक ठीक नहीं बताया जा सकता; पर वैदिक

समय में भी उनका अस्तित्व अवश्य था। सामगान होना और वेदों में "न तस्य प्रतिमा अस्ति" आदि मन्त्रों का पाया जाना, इसका प्रमाण है। "कवि" शब्द तो वेदों में अनेक स्थलों पर आया है। रामायण, महाभारत तथा पुराणों में इन कलाओं के नामोल्लेख ही नहीं, इन विषयों के ग्रंथों और ग्रंथकारों तक का उल्लेख है। किसी किसी में तो इसके लक्ष्य-लक्षण भी पाये गये हैं। काव्यों और नाटकों की तो कुछ पूछिए ही नहीं। चित्रों, चित्रफलकों और देवपाटों के लम्बे लम्बे वर्णन तक उनमें हैं। सङ्गीत, मूर्ति-निर्म्माण और चित्रकला के विषय में, पीछे तो, सैकड़ों ग्रंथ बन गये थे। उनमें से अधिकांश, अनेक कारणों से, नष्ट हो गये। अवशिष्टों में से कुछ छपकर प्रकाशित हो भी गये हैं और कुछ शायद प्राचीन संग्रहालयों में पड़े, अब तक सड़ रहे होंगे।

बौद्धों और जैनियों की बड़ी ही सुन्दर मूर्तियाँ तो अब भी, हज़ारों की संख्या में, यहाँ मौजूद हैं। आततायियों के द्वारा कितनी नष्ट हो गईं, और कितनी विदेशों में पहुँच गईं, यह बताना कठिन है। मूर्तियाँ बहुत दिनों तक रह सकती हैं। जब तक वे स्वयं स्थानभ्रष्ट होकर विकृत नहीं हो जातीं या जब तक तोड़ी नहीं जातीं तब तक बनी रहती हैं। इसी से ये बहुत बड़ी संख्या में अब तक पाई जाती हैं और भारतीय मूर्ति-निर्म्माण-कला की ऊर्जितावस्था की गवाही दे रही हैं। पर चित्र बहुत समय तक—हज़ारों वर्ष तक—नहीं रह सकते। वे प्रायः काग़ज़ और कपड़े (कनवास याने किरमिच) तथा दीवारों पर बनते हैं। इसी से शीघ्र बिगड़ जाते, फट जाते और रङ्गों की असलियत को खो देते हैं। ग्रंथों की नक़ल तो कोई भी लिपिकार कर सकता है। अतएव उनका अत्यधिक ह्रास या नाश भारत में नहीं हुआ। पर चित्रों की नक़ल करना सब का काम

नहीं। चित्रकार ही चित्रों की नक़ल कर सकता है और प्रसिद्ध प्रसिद्ध चित्रकारों की कृतियों की नक़ल करने के लिए तो उन्हींके सम्पूर्ण अनुभवी चितेरे चाहिए। ऐसे चितेरे सर्वत्र ही दुर्लभ होते हैं। यही कारण है जिनसे भारत को प्राचीन चित्रकला के उतने नमूने नहीं मिलते जितने कि मूर्तियों के मिलते हैं। तथापि चित्र-प्रेमियों के संग्रह में अब भी पुरानी क़लम के सहस्रशः चित्र ऐसे पाये जाते हैं जिनकी भाव-व्यञ्जकता, शारीरिक शुद्ध-चित्रण और रङ्गों का वैशद्य आदि देखकर चित्रकलाकोविदों के मनोमयूर नृत्य करने लगते हैं। कवियों के लिए जैसे शब्दों, वृत्तों और स्वाभाविक वर्णनों की आवश्यकता होती है वैसे ही चित्रकारों के लिए चित्रित वस्तु के स्वाभाविक रङ्ग-रूप की तद्वत् प्रतिकृति निर्म्मित करने की आवश्यकता होती है। तथापि चित्रकार और कवि के लिए ये गुण गौण हैं। इन दोनों ही का मुख्य गुण तो है भावव्यञ्जकता। जिसमें भाव-व्यञ्जना जितनी ही अधिक होती है वह अपनी कला का उतना ही अधिक ज्ञाता समझा जाता है।

भारत की बहुत प्राचीन चित्रकला के नमूने जिन्हें देखना हो उन्हें एलोरा के गुफ़ा-मन्दिरों की सैर करनी चाहिए। वहाँ दीवारों और छतों पर हज़ारों वर्ष के पुराने रङ्गीन चित्र अब भी प्रायः पूर्ववत् बने हुए हैं। दक्षिण के कुछ मन्दिरों में भी—जैसे एलोरा और सितानवासल के गुफ़ा-मन्दिरों में—पुराने चित्र पाये जाते हैं। उन चित्रों को देखकर देशी और विदेशी, सभी चित्रकलाकोविद मुग्ध हो जाते हैं। एक साहब ने तो अजन्ता के अधिकांश चित्रों की नक़ल पुस्तकाकार प्रकाशित कर दी है। पुरातत्व-विभाग के कितने ही अधिकारियों ने अन्यान्य स्थानों के भी प्राचीन भारतीय शिल्प का उद्धार किया है। वे सब भिन्न भिन्न पुस्तकों और रिपोर्टों में विद्यमान हैं। भारतीय चित्रकला का अभ्यास अभी

बहुत कम हुआ है और रामगिरि, अजन्ता, बाढा, सितानवासल, एलोरा को छोड़ कर मध्यकालीन चित्र-सामग्री अभी तक अप्राप्य है।

मुग़ल-बादशाहों के—विशेष करके जहाँगीर के—ज़माने में भारतीय चित्रकला पर उनके समानधर्म्मा चित्रकारों का प्रभाव पड़ा। इस कारण उसकी गति कुछ बदल गई। तथापि वे लोग भारतीय चित्रकारों से भी काम लेते रहे। ये चित्रकार ईरानी चित्रकला से प्रभावान्वित तो हुए, पर इन्होंने जो चित्र अपने मन से बनाये उनमें इन्होंने अपनी पैत्रिक कला के तत्व की पूर्ववत् यथासम्भव रक्षा की। शाही समय के चित्र अब भी, बहुत बड़ी संख्या में, पाये जाते हैं।

अब तक अपने भारत की प्राचीन चित्रकला के नमूने देखने को एकत्र प्राप्य न थे। हाँ, पुरानी सचित्र पुस्तकों में अब भी बहुत से चित्र देखे जाते हैं। परन्तु वे सभी उत्कृष्ट नहीं। डाक्टर कुमारस्वामी ने कुछ चित्र, बहुत समय हुआ, एक साथ निकाले थे। तथापि ये डाक्टर साहब भारतीय नहीं, सिंहली हैं। कुछ कलावेत्ताओं का यह भी ख़याल है कि मूर्ति-निर्म्माण-विद्या के वे चाहे भले ही बहुत बड़े ज्ञाता या पारदर्शी हों, पर चित्रकला के वे उतने अच्छे ज्ञाता नहीं। कुछ भी हो, भारत के सौभाग्य से, अब एक भारतीय ही सज्जन ने अपने चित्रकलावेत्ता होने का पूरा प्रमाण देने की कृपा की है। आपका नाम है नानालाल चमनलाल मेहता (N. C. Mehta) आई० सी० एस०। आप सिविलियन (Civilian) हैं और शायद इसी प्रान्त के प्रतापगढ़ में डेपुटी कमिश्नर हैं। आपने अभी, कुछ ही समय हुआ, एक पुस्तक अँगरेज़ी में लिख कर प्रकाशित की है। उसके प्रकाशक हैं—बम्बई के तारापुरवाला ऐंड सन्स। पुस्तक बहुत बड़ी है।

चित्राधिक्य होने के कारण मूल्य उसका ५६) है। नाम पुस्तक का है—Studies in Indian Painting—यह पुस्तक स्वयं हमने तो नहीं देखी; परन्तु अँगरेज़ी-अख़बारों में इसकी जो संक्षिप्त समालोचनायें और परिचय निकले हैं वे यदि यथार्थ हैं और अतिरञ्जना से पूर्ण नहीं तो इसकी महत्ता में सन्देह नहीं।

मेहता महाशय की इस पुस्तक में ईसा की सातवीं सदी से लेकर उन्नीसवीं सदी के प्रथमार्द्ध तक की चित्रकला के नमूने और उनकी आलोचनायें हैं। आपने अनेक नये नये नमूनों और अनेक नई नई ख़ूबियों का उद्घाटन किया है। पुस्तक में ६ अध्याय या विभाग और कुल मिलाकर ६१ चित्रों का प्रदर्शन है। दक्षिण के पल्लववंशी नरेन्द्र महेन्द्रवर्मा (प्रथम) के समय के तथा गुजरात के मध्यकालीन भी कुछ दुष्प्राप्य चित्रों का विवरण देकर आपने जहाँगीर के समय के कई विख्यात चित्रकारों तक के चित्रों की आलोचना की है। मुग़लों के समय की चित्रकारी का ह्रास होने पर अठारहवीं सदी के मध्य में हिन्दू-शैली की जिस चित्रकला का उदय काश्मीर और कमायूँ से लेकर राजपूताने और बुन्देलखण्ड तक हुआ था उस पर भी मेहता महोदय ने अच्छा प्रकाश डाला है। हिन्दूपन से पूर्ण इस पिछली चित्रकारी की कई शाखायें थीं। जयपुरी और पहाड़ी आदि शाखायें उन्हीं के अन्तर्गत हैं। इन सब के विवरण और नमूने देकर मेहता महाशय ने उनकी विशेषतायें बताई हैं। बहुत पुराने समय के चित्र आपको दक्षिणी प्रान्तों और पश्चिमी गुजरात ही में अधिक मिले हैं। इसमें आश्चर्य की बात नहीं। जिस उत्तरी भारत में ग्यारहवीं सदी ही से आततायियों के आक्रमणों का आरम्भ हो गया था उसमें भला हिन्दुओं की कारीगरी और ललित-कलाओं के अधिक चिह्न कैसे सुरक्षित रह सकते थे?

संस्कृत-साहित्य के ग्रंथ देखने से विदित होता है कि पुराने ज़माने में लाट और सौराष्ट्र—आधुनिक गुजरात—सङ्गीत, चित्रकला और मूर्ति-विधान के लिए विशेष प्रसिद्ध थे। अकबर के दरबार में भी कई गुजराती चित्रकार और गवैये विद्यमान थे। लाट-देश की चित्रकला का उल्लेख कथासरित्सागर एवं मध्य-कालीन प्राकृत-ग्रन्थों में भी मिलता है।

साधारण जनों के लिए मेहता महोदय की पुस्तक का अन्तिम भाग सबसे अधिक मनोरञ्जक होगा। उसमें आपने अपनी सहृदयता और चित्रकला की तत्वज्ञता का परिचय देकर, पुस्तक में प्रकाशित चित्रों की अच्छी आलोचना की है। जो सज्जन चित्रकला के पारदर्शी या प्रेमी हैं उन्हें चाहिए कि मेहता जी की यह पुस्तक ख़रीद कर इस बात को परीक्षा करें कि उनकी चित्रकलाभिज्ञता की प्रशंसा में अख़बारों ने जो कुछ लिखा है वह यथार्थ है या नहीं। यदि उसमें उन्हें कुछ त्रुटि भी मिलेगी तो भी, आशा है, सरसहृदय चित्रकलाकोविदों को उससे कुछ न कुछ, लाभ न सही, मनोरञ्जन तो अवश्य ही होगा।

मिस्टर मेहता की मातृभाषा गुजराती है। अँगरेज़ी में पुस्तक उन्होंने इसलिए लिखी होगी जिससे उसका अधिक प्रचार हो। अँगरेज़ीदाँ लोग ही इन बातों की क़दर भी अधिक करते हैं। तथापि बहुत से रईस ऐसे भी निकलेंगे जो चित्रों के क़दरदान तो हैं, पर अँगरेज़ी नहीं जानते। अतएव इस पुस्तक में प्रकाशित चित्रों की केवल ख़ूबियों आदि का संक्षिप्त वर्णन यदि हिन्दी में भी लिख दिया जाता तो अँगरेज़ी न जाननेवाले इसी प्रान्त के नहीं, कई अन्य प्रान्तों के भी चित्रप्रेमियों का उपकार होता।

[फरवरी १९२७]

भट्टिकाव्य

[४]

इस काव्य की गणना प्रसिद्ध काव्यों में है। इसके कर्त्ता का नाम भट्टि है। इसीलिए यह अपने कर्त्ता ही के नाम से प्रसिद्ध है। इस कवि के पिता का नाम श्रीस्वामी था। बलभी-नामक नगरी में श्रीधरसेन नाम का एक राजा हो गया है। उसी के राजत्वकाल में, उसी की राजधानी में रहते हुए, भट्टि ने इस काव्य की रचना की थी। यह बात उसने स्वयं ही अपने काव्य-ग्रंथ में लिखी है। यथा—

> काव्यमिदं विहितं मया बलभ्यां
> श्रीधरसेननरेन्द्रपालितायाम्।
> कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य
> क्षेमकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम्॥

यह कवि सिद्धान्तकौमुदी के प्रणेता प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजी दीक्षित से पुराना है। क्योंकि दीक्षित जी ने अपनी "कौमुदी" में भट्टि का यह श्लोक उद्धृत किया है—

> आः कष्टं बत ही चित्रं हूं मातर्दैवतानि धिक्।
> हा पितः क्वासि हे सुभ्रु बह्वेवं विललाप सः॥

डफ की लिखी हुई "क्रोनोलाजी आव् इंडिया" (Chronology of India) नाम की पुस्तक के अनुसार बलभी में श्रीधरसेन या धरसेन नाम के चार राजे हो गये हैं। पहला ४६५ ईसवी के लगभग और चौथा ६५१ ईसवी के लगभग। इन्हीं चारों में से किसी एक के समय इस काव्य की रचना हुई है। अतएव इस काव्य को अस्तित्व में आये कम से कम १२०० वर्ष हुए।

यह ग्रंथ काव्य होकर भी व्याकरण है। इस दृष्टि से यह एक अद्भुत ग्रंथ है। ऐसा अन्य ग्रंथ संस्कृत-भाषा के साहित्य में हमारे देखने में नहीं आया। इसका परिशीलन करते समय काव्यानन्द की भी प्राप्ति होती है और व्याकरण के ज्ञान की भी प्राप्ति होती है। इस तरह के अभूतपूर्व ग्रंथ की रचना भट्टि ने क्यों की, इसका कारण पण्डित लोग, एक किंवदन्ती के रूप में, बताते हैं। उसे हम किंवदन्ती इसलिए कहते हैं, क्योंकि उसका लिखित प्रमाण इस काव्य में या कहीं अन्यत्र नहीं। कम से कम हमने उसे कहीं लिखा नहीं देखा। यह किंवदन्ती नीचे दी जाती है—

भट्टि ने अपने अल्पवयस्क पुत्र को व्याकरण पढ़ाने के लिए मुहूर्त निश्चित किया। ज्योंही वह समय आया त्योंही पिता-पुत्र के बीच से, कहीं जाता हुआ, एक हाथी निकल गया। इसे भट्टि ने बहुत बड़ा अपशकुन समझा। क्योंकि पुराने पण्डितों का ख़याल था कि अध्येता और अध्यापक के बीच से हाथी निकल जाने पर १२ वर्ष का अनध्याय मानना पड़ता है। इस परिपाटी को तोड़ने का साहस पण्डितवर भट्टि को न हुआ। वे सोच-विचार में पड़ गये। उन्होंने कहा कि व्याकरण ही सारे शास्त्रों की आँख है; बिना उसे पढ़े किसी भी शास्त्र में अच्छी तरह गति नहीं हो सकती। अब यदि लड़का, १२ वर्ष बाद, व्याकरण पढ़ना आरम्भ करेगा तो अच्छी तरह पढ़ न सकेगा; क्योंकि उम्र अधिक हो जाने पर व्याकरण के सदृश क्लिष्ट शास्त्र में यथेष्ट बुद्धि-प्रवेश नहीं हो सकता। डर है कि कहीं वह मूर्ख न रह जाय और यदि अभी इसे यह शास्त्र पढ़ाते हैं तो परिपाटी नष्ट होती है और हम लोक-निन्दा के पात्र होते हैं। इस दशा में उभयतः पाशा-रज्जु के बन्धन से बचने की एक युक्ति उन्हें सूझी। उन्होंने निश्चय किया कि मैं अब एक ऐसे काव्य की रचना करूँगा जिसके पाठ से काव्य-

ज्ञान के साथ ही साथ व्याकरण-ज्ञान भी होता जाय। यह भट्टि-काव्य उनके उसी निश्चय और परिश्रम का फल है। इसमें भट्टि-महात्मा कहाँ तक कृत-कार्य्य हुए हैं, इसका प्रमाण समस्त, संस्कृतज्ञ जन-समुदाय है। बहुत सम्भव है, इस काव्य की बदौलत भट्टि का पुत्र अच्छा वैयाकरण हो गया हो।

इस ग्रन्थ में काव्यत्व की कमी नहीं। पर वह विषय कुछ गौण है। इसका मुख्य विषय व्याकरण की शिक्षा देना है। अतएव इसमें व्याकरण की प्रक्रियाओं और पदादि के लक्षण और रूप, प्रत्यक्ष उदाहरणों के द्वारा, घटित किये गये हैं। काव्य-सुलभ आनन्द के साथ ही साथ व्याकरण के विशिष्ट विशिष्ट अंशों का बोध कराना ही इसका प्रधान उद्देश है। बच्चों को कष्ट न हो और विषय-विशेष या शास्त्र-विशेष में उनका प्रवेश हो जाय, यही तत्व आधुनिक शिक्षा-शास्त्र के आचार्य्यों का भी है। उसी की रक्षा इस काव्य में की गई है। व्याकरण के सदृश शुष्क शास्त्र को इतनी सरस और सरल रीति से, प्रत्यक्ष उदाहरणों के द्वारा, काव्य में घटित कर देना सहज काम नहीं। इसी कष्ट-साध्य काम को महापण्डित भट्टि ने सिद्ध कर दिखाया है। इसी से उन्हें विज्ञजनों ने महापण्डित ही की नहीं, महाकवि की भी उपाधि से अलंकृत किया है। उनका यह काव्य उस देश की व्याकरण-विषयक ऊँची परीक्षाओं के लिए भी पाठ्य-ग्रंथ नियत है। कालेजों में भी पहले यह पढ़ाया जाता था; पर इस समय की ख़बर हमें नहीं। यह इस काव्य की उपादेयता का पक्का प्रमाण है।

व्याकरण के जो ग्रन्थ छात्रों को पढ़ाये जाते हैं उनमें से लघुकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी, सारस्वत और चन्द्रिका मुख्य हैं।

कहीं कहीं अष्टाध्यायी पढ़ाने की भी परिपाटी है। यदि इन ग्रन्थों को पढ़ाते समय अध्यापक उसी प्रकरण को भट्टिकाव्य से भी पढ़ाता जाय और प्रत्यक्ष उदाहरणों के द्वारा छात्र को उस विषय का बोध कराता जाय तो व्याकरण-शास्त्र की रूक्षता कम हो जाय। इससे व्याकरण के साथ ही साथ काव्य-साहित्य में भी गति होती जाय और शुष्कता के कारण व्याकरणानुशीलन से छात्र को विरक्ति भी न हो।

भट्टिकाव्य छोटा नहीं, बड़ा है। उसमें २२ सर्ग हैं। पहले के पाँच सर्गों में रामजन्म से लेकर सीताहरण तक की कथा है। उसे इस काव्य का लक्ष्यरूप समझिए। इन सर्गों में व्याकरण के लक्षणरूप प्रकीर्णक विषय भी, साथ ही साथ, आ गये हैं। इसीसे इतने अंश का नाम प्रकीर्णकाण्ड है। सुग्रीव के राज्याभिषेक-वर्णन से हनूमान् के लङ्का-गमन तक की कथा छठे से नवें सर्ग तक है। इनमें कारक, कृदन्त, तद्धित और तिङन्त के कुछ प्रत्ययों के विषय, अधिकार रूप में, दिये गये हैं। अतएव इस अंश का नाम अधिकार-काण्ड है। दसवें से तेरहवें सर्गपर्यन्त सेतुबन्ध तक की कथा के अन्तर्गत काव्य-सम्बन्धी अलंकार, गुण और भाषावैचित्र्य आदि दिखाया गया है। इन सर्गों के पाठ से हृदय-प्रसादन होता है। इस कारण इन सबका नाम कवि ने प्रसन्न-काण्ड रक्खा है। चौदहवें सर्ग से अन्तिम सर्ग तक युद्ध वर्णन है। उनका सामुदायिक नाम है—तिङन्त-काण्ड। उनमें क्रियाओं के रूप अर्थात् संस्कृत-व्याकरण के सभी 'लकारों' के उदाहरण हैं। सो आप देखिए, इस काव्य में व्याकरण के प्रायः सभी विषयों का समावेश, लक्षणरूप में, बड़ी ही खूबी के साथ किया गया है। व्याकरण और काव्य, दोनों का एकीकरण, एक ही साथ कर सकने की शक्ति रखनेवाले महा-पण्डित भट्टि की जितनी प्रशंसा की जाय कम है।

संस्कृत-व्याकरण में सामान्यभूत-कालिक क्रियाओं के रूप बहुत ही अटपटे हैं। उन्हें आयत्त करने में बेचारे छात्रों को बड़ी हैरानी उठानी पड़ती है। काव्यारम्भ करते ही भट्टि ने उन्हीं रूपों के ज्ञानार्णव के पार होने के लिए श्लोकरूपी जहाज़ न सही, नौकायें, निर्म्माण करने का कारख़ाना-सा खोल दिया। संस्कृत में 'भू' धातु सर्व-प्रधान है। भट्टि ने उसी में हाथ लगा कर—

अभून्नृपो दशरथ इत्युदाहृतः

इत्यादि श्लोक-द्वारा 'भू' का 'अभूत्' रूप दिखा दिया है। इसके आगे, दूसरे श्लोक में, तो उसने इस सामान्य भूत के रूपों की झड़ी सी लगा दी है। देखिए—

सोऽध्यैष्ट वेदांस्त्रिदशानयष्ट
पितॄनतार्प्सीत्समंस्त बन्धून्।
व्यजेष्ट षड्वर्गमरंस्त नीतौ
समूलघातं न्यवधीदरींश्च॥

इसमें भिन्न भिन्न प्रकार की छः सामान्य-भूतकालिक क्रियाओं के रूपों का समावेश है। इसके सिवा एक णमुल्-प्रत्ययान्त पद और "नश्छव्यप्रशान्" सूत्रोक्त सन्धि-विषय भी सन्निविष्ट है। ये सब उदाहरण अपने अपने प्रकरण में यदि छात्रों को हृदयङ्गम करा दिये जायँ तो कभी न भूलें।

दूसरे सर्ग में कवि परोक्ष-भूतकालिक क्रियाओं के पीछे पड़ गया है। उस सर्ग का ३९ वाँ श्लोक देखिए—

बलिर्बबन्धे जलधिर्ममन्थे
जह्रेऽमृतं दैत्यकुलं विजिग्ये।
कल्पान्तदुःस्था वसुधा तथोहे
येनैष भारोऽतिगुरुर्न यस्य॥

इसमें "कर्म्मणि लिट्" के उदाहरणों की धूम है। अब आप चौदहवें सर्ग के सातवें श्लोक में "कर्तरि लिट्" के प्रयोगों का जमघट देखिए—

जगर्जुर्जहृषुः शूरा रेजुस्तुष्टुविरे परैः।
बबन्धुरङ्गुलित्राणि सन्नेदुः परिनिर्ययुः॥

इस ऊपर के छोटे से अनुष्टुप् छन्द में सात क्रियापद आ गये हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस कवि को व्याकरण हस्तामलकवत् हो रहा था। चौदहवें सर्ग के सौ से अधिक श्लोकों में उसने इस लकार के न मालूम कितने प्रयोगों का उपयोग किया है।

एक ही साथ कई क्रियापदों का प्रयोग तीसरे सर्ग के ४४ वें श्लोक में नीचे देखिए—

वस्त्रान्नपानं शयनञ्च नाना-
कृत्वावकाशे रुचिसंप्रक्लृप्तम्।
तान् प्रीतिमानाह मुनिस्ततः स्म
निवध्वमाध्वं पिबतात्तशेध्वम्॥

अन्य सभी अधिकारों के उदाहरण देने के लिए स्थान नहीं। अतएव, नमूने के तौर पर, कुछ ही और उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

छठे सर्ग के ६४ वें श्लोक में खश् प्रत्यय के प्रयोग देखिए—

सत्वमेजय सिंहाद्यान् स्तनन्धयसमत्विषौ।
कथं नाडिन्धमान् मार्गानागतौ विषमोपलान्॥

इसी में 'खश्' के तीन प्रयोग आ गये हैं। अब 'खश्' के साथी 'खच्' के कुछ प्रयोग देखिए। वे ऊपर उद्धृत श्लोक के आगे ही १०० नम्बर के श्लोक में विद्यमान हैं। यथा—

उग्रंपश्येन सुग्रीवस्तेन भ्राता निराकृतः।
तस्य मित्रीयतो दूतः सम्प्राप्तोऽस्मि वशंवदः॥

संस्कृत-व्याकरण में एक प्रत्यय का नाम 'इष्णुच्' है। हिन्दी के सहिष्णु आदि शब्द उसी की बदौलत अस्तित्व में आये हैं। उनका एक यूथ का यूथ पाँचवें सर्ग के पहले ही श्लोक में विचरण कर रहा है। देख लीजिए—

निराकरिष्णू वर्तिष्णू वधिष्णू परितो रणम्।
उत्पतिष्णू सहिष्णू च चेरतुः खरदूषणौ॥

यदि आप एक ही प्रकार के कुछ प्रत्ययों का एकत्र प्रयोग देखना चाहें तो भट्टि काव्य के सातवें सर्ग का यह श्लोक देखिए—

सृमरो भङ्गुरप्रज्ञो गृहीत्वा भासुरं धनुः।
विदुरो जित्वरः प्राप लक्ष्मणो गत्वरान् कपीन्॥

यह छोटा सा अनुष्टुप् छन्द है। पर इसी ३२ अक्षरों के छन्द में कवि ने क्रमशः क्मरच्, घुरच्, कुरच् और करप् इन इतने प्रत्ययों के प्रयोग दिखा दिये हैं। उसने व्याकरण के निपातित प्रयोगों तक को दिखाने में कसर नहीं की। उन्हें उसने नाचीज़ या मामूली चीज़ समझ कर छोड़ नहीं दिया। चौथे सर्ग के तेरहवें श्लोक में ये प्रयोग नीचे देखिए—

परेद्यव्यद्य पूर्वेद्युरन्येद्युश्चापि चिन्तयन्।
वृद्धिक्षयौ मुनीन्द्राणां प्रियं भावुकतामगात्॥

कवि ने व्याकरण के अत्यन्त अल्प महत्त्व तक के विषयों को भी, प्रयोग-निदर्शन-द्वारा, व्यक्त करने का प्रयास उठाया है। उसने अव्ययीभाव-समास की बानगी, पूर्वोद्धृत श्लोक के ठीक आगे ही, दिखाई है। यथा—

आतिष्ठद्गु जपन् सन्ध्यां प्रक्रान्तामायतीगवम्।
प्रातस्तरां पतत्रिभ्यः प्रबुद्धः प्रणमन् रविम्॥

पाठकों के मन में यह शङ्का उद्भूत हो सकती है कि यदि इस ग्रन्थ में सभी पद्य ऐसे ही हैं तो इसकी काव्य-संज्ञा नहीं हो सकती; क्योंकि व्याकरण के विविध प्रयोगों से पूर्ण यह तो महाशुष्क रचना मानी जायगी; रस का तो इसमें प्रायः अभाव ही है और जिसमें रस नहीं उसकी गणना काव्य में नहीं हो सकती; क्योंकि रसात्मक वाक्य ही काव्य कहलाता है—"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"। यह शङ्का अकारण नहीं। इस काव्य के कुछ अंश, यत्र तत्र, अवश्य ही नीरस से हैं; परन्तु इसमें सरस पद्य भी हैं और बहुत हैं। अतएव उतने अंश अवश्य ही काव्य के लक्षणों से लक्षित हैं। एक बात और भी तो है। अन्य कवियों और महा-कवियों की जिन कृतियों को काव्य-पदवी प्राप्त हुई है वे क्या सर्वांश में सरस और काव्यत्व से पूर्ण हैं? उनमें भी तो स्थल-विशेष और पद्य-विशेष नीरसता लिये हुए हैं। अतएव यदि वे सब काव्य हैं तो भट्टि कवि का भट्टि-काव्य भी काव्य ही है।

इस ग्रन्थ में वीर रस प्रधान है। अङ्गाङ्गि-भाव से और रसों का भी, कहीं कहीं, यथास्थान, परिपाक हुआ है। अलङ्कारों का भी इसमें अभाव नहीं। यद्यपि इसमें व्याकरण के प्रयोग प्रकट दिखाने की चेष्टा की गई है तथापि प्रसाद-गुण भी इसमें पाया जाता है। परन्तु जिसकी गति व्याकरण-शास्त्र में है उसी को इसकी रचना में उस गुण का ज्ञान शीघ्र हो सकता है; दूसरों को उसकी अवगति में विलम्ब अवश्य लग सकता है। तिस पर भी, कुछ स्थानों को छोड़ कर, अन्यत्र इसमें क्लिष्ट कल्पनायें बहुत ही कम पाई जाती हैं। इस काव्य के गुण-दोषों का विचार करते समय कवि के समय का भी विचार करना चाहिए। जिन प्राचीन कवियों की गणना महाकवियों में है उन्होंने भी सर्ग के सर्ग चित्र-काव्य से चित्रित कर डाले हैं। उनकी देखादेखी भट्टि ने भी अपनी कवित्व-शक्ति

दिखाने के लिए, दसवें सर्ग में, बीस-इक्कीस श्लोक केवल यमक-बद्ध लिख डाले हैं। उनमें से प्रत्येक श्लोक में भिन्न भिन्न प्रकार के यमक के उदाहरण हैं। गर्भ-यमक, सन्न-यमक, महा-यमक आदि किसी भी यमक को प्रायः उसने नहीं छोड़ा। नीचे भट्टि महाराज के चक्रवाल-यमक का नमूना देखिए—

अवसितं हसितं प्रसितं मुदा
विलसितं ह्रसितं स्मरभाषितम्।
न समदाः प्रमदा हतसंमदाः
पुरहितं विहितं न समीहितम्॥

इसे आप शब्दाडम्बर-मात्र न समझ लीजिएगा। यह सर्वथा सार्थक और भावपूर्ण है; यह बात संस्कृतज्ञों के ध्यान में तत्काल आ जायगी। महायमक के उदाहरण में इस कवि ने एक श्लोक ऐसा लिखा है जिससे राम का भी अर्थ निकलता है और पर्व्वत का भी। यथा—

अभियातावरं तुङ्गं भूभृतं रुचिरं पुनः।
कर्कशं प्रथितं धाम ससत्वं पुष्करेक्षणम्॥

अन्य लक्षण-ग्रन्थों की तरह दीपक, रूपक और उपमा के बहुत से भेद दिखा कर कवि ने शेष अलंकारों के निदर्शन के लिए प्रायः एक ही एक उदाहरण दिया है। इस कवि की कोई कोई उपमा बड़ी ही अनूठी है। सीताहरण के लिए जब रावण उनके पास आया तब कवि को एक बड़ी ही मनोहारिणी उपमा सूझी। उसने लिखा—

प्रगृह्यपदवत्-साध्वीं स्पष्टरूपामविक्रियाम्।
अगृह्यां वीतकामत्वाद् देवगृह्यामनिन्दिताम्॥

इस श्लोक में "प्रगृह्यपद्वत्साध्वीं" यह सीता का विशेषण है। इसमें कवि ने अद्भुत कर्तब दिखाया है। व्याकरण का नियम है कि प्रगृह्य-पद में अन्य-पद-संयोग होने से सन्धि-जन्य विकार नहीं होता। कवि का कहना है कि जिस प्रकार ऐसे संयोग से सन्धि-विकार नहीं होता उसी प्रकार रावणादि अन्य पुरुषों का सान्निध्य होने पर सीता जी के भी मन में कुछ भी विकार नहीं हुआ।

उषःकाल समीप है। क्षीणपुण्य पुरुष की तरह कलानिधि चन्द्रमा का अस्तकाल उपस्थित है। ऐसे समय में मनुष्यों के शत्रु प्रसन्न और मित्र दुखी होते हैं। यही दशा, प्रातःकाल, सूर्य और चन्द्रमा के शत्रु-मित्रों की भी होती है। इसका उल्लेख भट्टि ने एक बड़े ही हृदयहारी और सरस श्लोक में किया है। यथा—

अथास्तमासेदुषि मन्दकान्तौ
पुण्यक्षयेणेव निधौ कलानाम्।
समाललम्बे रिपुमित्रकल्पैः
पद्मैः प्रहासः कुमुदैर्विषादः॥

यह पद्य माधुर्य्य और प्रसाद-गुण का बहुत ही अच्छा नमूना है।

कविवर भट्टि ने तेरहवें सर्ग में भाषा-वैचित्र्य का भी प्रदर्शन किया है। उसमें उसने संस्कृत और प्राकृत के मिश्रण की बानगी दिखाकर मानों इस बात का सबूत दिया है कि जिस तरह संस्कृत-भाषा में मेरी गति अबाध है उसी तरह प्राकृत-भाषा में भी है।

इस कवि ने दूसरे सर्ग में शरदृतु का बड़ा विशद वर्णन किया है। उसके दो श्लोक नीचे उद्धृत हैं—

प्रभातवाताहतिकम्पिताकृतिः
कुमुद्वतीरेणुपिशङ्गविग्रहम् ।
निरास भृङ्गं कुपितेव पद्मिनी
न मानिनी संसहतेऽन्यसङ्गमम् ॥

खिली हुई कमलिनी पर प्रातःकाल भौंरा आकर बैठ गया। परन्तु वायु के झोंके से कमलिनी जो ज़ोर से हिली तो उसे उड़ जाना पड़ा। इस पर कवि की उक्ति है कि वह भौंरा कुमुद्वती का रस लेकर कमलिनी के पास आया था, क्योंकि उसके बदन पर कुमुदिनी का पीला पीला पराग लगा हुआ था। यह देख कर क्रोध से कमलिनी काँप उठी और उस भौंरे को अपने पास से निकाल बाहर किया। उसका यह काम बहुत मुनासिब हुआ, क्योंकि मानिनी स्त्री अपने प्रियतम का अन्य-संसर्ग कभी बर्दाश्त नहीं कर सकती।

इस काव्य के शरद्वर्णन का एक श्लोक साहित्यदर्पणकार ने, एकावली-अलङ्कार के उदाहरण में, उद्धृत किया है। यह श्लोक बहुत ही श्रुतिसुखद और सुन्दर है। देखिए—

न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं
न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम् ।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं
न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः ॥

मखरक्षा के लिए रामचन्द्र जी विश्वामित्र के साथ जा रहे थे। मार्ग में कहीं पर उन्होंने गोप-नारियों को दधिमन्थन करते देखा। इस दृश्य का जो वर्णन भट्टि-कवि ने, एक श्लोक में किया है उसमें उन्होंने इसका चित्र सा खींच दिया है। यथा—

विवृत्तपार्श्वं रुचिराङ्गहारं
समुद्वहच्चारुनितम्बरम्यम् ।
आमन्द्रमन्थध्वनिदत्तातालं
गोपाङ्गनानृत्यमनन्दयत्तम् ॥

मारीच से मुठभेड़ होने पर रामचन्द्र ने उसको जीवन-वृत्ति पर उसे इस प्रकार फटकार बताई—

आत्मंभरिस्त्वं पिशितैर्नराणां
फलेग्रहीन् हंसि वनस्पतीनाम् ।
शौवस्तिकत्वं विभवा न येषां
व्रजन्ति तेषां दयसे न कस्मात् ?

रे दुष्ट ! तू मनुष्यों के मांस से पेट पालता है; वनस्पतियों के फल-फूल खाकर जीवन-निर्वाह करने वालों की हत्या करता है; जिन्हें आज भोजन किसी तरह मिल गया तो कल फाके की नौबत है उन पर भी दया नहीं करता ! तुझे धिक्कार है !

प्राचीन आर्य्य इन वन्य मनुष्यों के साथ कौन बड़ा अच्छा सलूक करते थे। वे उनकी जगह-ज़मीन ज़बरदस्ती छीन लेते थे; उन्हें अपना दास बना कर रखते थे; उन्हें वेदविहित धर्मानुष्ठान का अधिकारी न समझते थे। इस दशा में मारीच और उसके सजातीय क्या आर्य्य-ऋषियों की पूजा करते ? इसी से रामचन्द्र की फटकार सुन कर मारीच जल उठा। वह बोला—

अथो द्विजान् देवयजीन् निहन्मः
कुर्म्मः पुरं प्रेतनराधिवासम् ।
धर्म्मो ह्ययं दाशरथे निजो नो
नैवाध्यकारिष्महि वेदवृत्ते ॥

दाशरथे तुमने जो कुछ फ़रमाया वह तुम्हारे और तुम्हारे आर्य्य-मुनियों के लिए मुबारक हो। तुम्हीं लोग उन मुनियों की पूजापाती करो। हम लोग तो वेदवृत्ति के अधिकारी ही नहीं। इसी से हम उसके विपरीत धर्म्म के अनुयायी बने हैं। हम तो द्विजों को खा जाते हैं, याज्ञिकों को मार डालते हैं और गाँवों तथा नगरों को उजाड़ कर वहाँ भूत-प्रेतों को आबाद करते हैं। समझे!

ऊपर के दोनों श्लोकों में कविवर भट्टि ने, मुनियों और मुनि-द्रोहियों के विषय में, अपने हार्दिक भाव ख़ूब सफ़ाई के साथ प्रकट कर दिये हैं।

छिपकर रामचन्द्र-द्वारा बालि का मारा जाना भी कवि को पसन्द नहीं आया। इसी से उसने लिखा है कि उनके इस कृत्य के लिए मुनियों तक ने रामचन्द्र का धिक्कार किया—

धिग् दाशरथिमित्यूचुर्मुनयो वनवर्त्तिनः

कवि ने बालि के द्वारा तो, इस सम्बन्ध में, रामचन्द्र को बड़े ही निष्ठुर वचन सुनाये हैं—

मृषासि त्वं हविर्याजी राघव छद्मतापसः।
अन्यव्यासक्तघातित्वाद् ब्रह्मघ्नां पापसम्मितः॥

ताड़का-वध के सम्बन्ध में भी भट्टि कवि ने रावण के मुख से रामचन्द्र की भर्त्सना कराई है—

अघानि ताड़का येन लज्जाभयविभूषणा।
स्त्रीजने यदि तच्छ्लाघ्यं धिग् लोकं क्षुद्रमानसम्॥

इसके पहले जो छः सात श्लोक भट्टिकाव्य से उद्धृत किये गये उन सभी में व्याकरण के किसी न किसी विषय से सम्बन्ध

रखनेवाले उदाहरण मौजूद हैं। पर उन सब की विवृति जान बूझ कर नहीं की गई। क्योंकि संस्कृत-व्याकरण न जाननेवाले पाठकों को वह रुचिकर न होती। ऊपर कई जगह जो व्याकरण-विषयक प्रयोगों का उल्लेख हो चुका वही काफी समझा गया।

भट्टि ने कहीं कहीं पर बड़े अच्छे नीति-नियम भी निर्दिष्ट किये हैं। वानर जब सीता को ढूँढ़ते ढूँढ़ते थक गये और भूख के मारे रोने-चिल्लाने लगे तब सम्पाति ने उन्हें ख़ूब डाँट बताई। उसने कहा—रोते बैठने से क्या होगा? जिस बात की खोज हो उसे जान लेने की फ़िक्र में मर मिटना चाहिए; शत्रुओं का अपकार करने के लिए छिपकर, चोर की तरह, कोई काम न करना चाहिए; खुल कर कार्य्य-सिद्धि के लिए प्रयत्न करना चाहिए। तभी सफलता और तभी सम्पत्ति की प्राप्ति हो सकती है—

नाविविदिषिमभ्येति सम्पद् रुरुदिषं नरम्।
किं मुमुर्षिषुवद् यात द्विषो नापचिकीर्षया॥

भट्टिकाव्य में कुछ विद्वानों ने दोषोद्भावनायें भी की हैं। भट्टि ने एक जगह जो लिखा है—"हा पितः क्वासि हे सुभ्रु"—उसमें वैयाकरण एक भूल बताते हैं। उसके सम्बन्ध में भट्टो जी दीक्षित ने लिखा है—"प्रमाद एवायं बहवः" इत्यादि।

पाँचवें सर्ग के चौदहवें श्लोक में भट्टि ने सीता जी को दूर्वादलश्याम बताया है—"दूर्वाकाण्डमिव श्यामा न्यग्रोधपरिमण्डला"। पर अन्य लोग उन्हें तप्त-सुवर्णकान्ति-वाली अर्थात् गौर-वर्ण समझते हैं। इसी तरह के और भी कई आक्षेप कवि-वर भट्टि के इस काव्य के विषय में किये जाते हैं। परन्तु, इस लेख में, उन सब के उल्लेख और विवेचन की आवश्यकता नहीं।

[नवंबर १९२७]

गायकवाड़ की प्राच्य-पुस्तक-माला

(Gaikwad's Oriental Series)

[५]

महाराजा बड़ौदा, सर सयाजीराव गायकवाड़, आदर्श राजा हैं। शासन की कोई शाखा ऐसी नहीं जिसकी उन्नति उन्होंने न की हो अथवा जिसकी उन्नति की ओर उनका ध्यान न गया हो। वे चाहते हैं कि उनकी प्रजा सब तरह सुखी रहे, उसके आराम के लिए हर तरह के सुभीते हो जायँ, उसे विद्या-प्राप्ति और ज्ञान-लाभ के लिए किसी बात की कमी न रहे। वे जानते हैं कि ज्ञान-वृद्धि का सब से बड़ा साधन शिक्षा और पुस्तक-प्रचार है। इसी से आज तक उनकी सहायता से कोई साढ़े तीन सौ लाभदायक ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। कितनी ही पुस्तक-मालिकायें, उनकी कृपा और सहायता से, निकल चुकी हैं और अब तक निकल रही हैं। कुछ के नाम सुनिए—

(१) बाला-ज्ञानमाला में लड़कियों के पढ़ने योग्य अनेक पुस्तकें (Readers) प्रकाशित हुई हैं।

(२) भारतीय सङ्गीतमाला में १५ पुस्तकें सङ्गीत पर प्रकाशित हुई हैं।

(३) ज्ञान-मञ्जूषा में विज्ञान-विषय की तीस पुस्तकें निकली हैं।

(४) प्राचीन काव्यमाला में गुजराती भाषा के ३५ प्राचीन काव्य प्रकट हुए हैं।

(५) राष्ट्र-कथामाला की १० जिल्दों में अनेक जातियों के इतिहास छप चुके हैं।

(६) हिन्दू-धर्मशास्त्र की ७ जिल्दों में स्मृतियों के अनुवाद छपे हैं।

(७) पाटन की हस्त-लिखित २४ प्राचीन पुस्तकों के अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं।

इसी तरह महाराष्ट्र-ग्रन्थमाला, क्रीड़ा-माला और पाक-शास्त्र आदि के द्वारा भी अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हो चुका है। इसके सिवा और भी कितनी ही पुस्तकें अलग अलग भी प्रकाशित हुई हैं। एक शिक्षा-प्रेमी और प्रजावत्सल राजा जब इतना काम कर सकता है तब यदि दस पाँच राजे ऐसा ही उद्योग करें तो भारत में कितना ज्ञान-विस्तार हो जाय, यह बताने की ज़रूरत नहीं। राजपूताने, मध्यभारत, पञ्जाब बिहार आदि में कितने ही राजे महाराजे हैं। पर किसी का ध्यान इस तरफ नहीं। यदि हमारे प्रान्त के दो चार तअल्लुक़ेदार—अलग अलग न सही—मिल कर भी साल में दो ही चार हज़ार रुपये ख़र्च करें तो हिन्दी का बहुत प्रचार हो—हिन्दी की बहुत सी नई नई पुस्तकें निकलें, और इस प्रबन्ध से सर्व-साधारण को बहुत कुछ ज्ञान-वृद्धि हो। पर उन की प्रवृत्ति ही इस ओर नहीं। मेलों तमाशों में वे हजारों ख़र्च कर डालेंगे; मतलब से ज़ियादह हाथी, घोड़े, फिटन और मोटरकार ख़रीद लेंगे; दावतों में हज़ारों रुपया फूँक तापेंगे। पर विद्या-वृद्धि के लिए कुछ न ख़र्च करेंगे। यह हाल सभी का नहीं। कुछ पृथ्वी-पति ऐसे भी हैं जो समय पर ऐसे काम के लिए भी कुछ दे डालते हैं; पर उन की संख्या बहुत ही थोड़ी है। अस्तु।

अब महाराजा बड़ौदा ने एक और भी बड़ी ही महत्व-पूर्ण पुस्तक-माला का प्रकाशन आरम्भ कराया है। उसके लिए उन्होंने बहुत सा रुपया मंज़ूर किया है। पाटन में जैनों का जो प्राचीन

पुस्तक-भाण्डार है उसमें अनेक ग्रन्थ-रत्न सञ्चित हैं। उस तरफ़ और भी ऐसे कितने ही भाण्डार हैं—कुछ बड़ौदे की रियासत में हैं, कुछ अन्यत्र। उनमें सञ्चित पुस्तकें कृमियों का भक्ष्य हो रही हैं। अतएव उन्हें नाश से बचाने के लिए महाराजा बड़ौदा ने एक "Oriental Series" निकालने का प्रबन्ध किया है। यह पुस्तक-माला वैसी ही निकलेगी जैसी कि बम्बई, मद्रास, माइसोर, ट्रावनकोर और काश्मीर आदि से निकलती है। इसमें पाटन तथा अन्य भाण्डारों के प्राचीन ग्रन्थ प्रकाशित होंगे। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और गुजराती—इन सभी भाषाओं के प्राचीन ग्रन्थों का उद्धार इसमें होगा। पाटन के ग्रन्थ-भाण्डारों में बहुत पुराने और बड़े महत्व के ग्रन्थ हैं। वे भी इस प्राचीन पुस्तक-माला में प्रकाशित होंगे।

इस ग्रन्थ-माला का सम्पादन बड़ौदे के राजकीय पुस्तकालयों के अध्यक्ष, श्रीयुत कुडलकर, एम० ए०, की अधीनता और निरीक्षण में होगा। इसमें अब तक दो ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। अन्य कितने ही छप रहे हैं। कुछ का सम्पादन भी हो रहा है। जो ग्रन्थ निकले हैं उनमें से एक—

(१) राजशेखर विरचित काव्य-मीमांसा और दूसरा—

(२) वस्तुपाल-विरचित नरनारायणानन्द महाकाव्य है।

इनका परिचय सुनिए—

काव्य-मीमांसा का सम्पादन दो पुस्तकें देख कर किया गया है—एक तो ईसा की तेरहवीं सदी में ताल-पत्र पर लिखी हुई कापी और दूसरी पन्द्रहवीं सदी में क़ाग़ज़ पर लिखी हुई कापी। अब तक राजशेखर-कृत बालभारत, बालरामायण, विद्धशाल-भञ्जिका और कर्पूर-मञ्जरी ही का पता पण्डितों को था। अब महाराजा गायकवाड़ की कृपा से काव्य-मीमांसा भी सुलभ हो

गई। इस महाकवि के रचे हुए हरविलास नामक एक महाकाव्य और भुवनकोश नामक एक भूगोल का भी पता चला है। पर ये पुस्तकें अभी तक देखने को नहीं मिलीं। राजशेखर कवि क़न्नोज के राजा महेन्द्रपाल के उपाध्याय थे। यह राजा ईसा के दसवें शतक के आरम्भ में (६१७ ईसवी में) विद्यमान था। अतएव राजशेखर का भी वही समय हुआ। राजशेखर अनेक भाषाओं के ज्ञाता थे। वे कविराज थे। अपने इस ग्रन्थ में उन्होंने कवियों की कई अवस्थाओं का वर्णन किया है और कविराज को महाकवि से बढ़ कर बताया है। राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी भी विदुषी थी। उन्होंने इस ग्रन्थ में कई बार अपनी पत्नी का मत प्रकट किया है। राजशेखर के समय में बड़े घरों की स्त्रियाँ यथेच्छ विद्योपार्जन करती थीं। उन्होंने लिखा है—

पुरुषवत् योषितोऽपि कवयो भवेयुः। संस्कारो ह्यात्मनि समवैति न स्त्रैणं पौरुषं वा विभागमपेक्षते। श्रूयन्ते दृश्यन्ते च राजपुत्र्यो, महामात्यदुहितरो, गणिकाः, कौतकिभार्याश्च शास्त्रप्रहतबुद्धयः कवयश्च।

राजशेखर की इच्छा थी कि वे इस पुस्तक को १८ अधिकरणों में लिखें और उनमें काव्य-विषयक सभी बातों का उल्लेख करें। पर प्रस्तुत पुस्तक में केवल एक ही अधिकरण है। सम्भव है, अगले १७ अधिकरण लिखने के पहले ही वे मर गये हों, या वे किसी कारण नष्ट हो गये हों। ख़ैर। जो कुछ इस अधिकरण में है वह प्रायः सभी विलक्षण नहीं तो बहुतों के लिए अभिनव अवश्य ही है। इसकी अधिकांश बातें काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण आदि में नहीं। कवियों के भेदादि पर राजशेखर लिखने लगे तो कई अध्याय लिख डाले। अर्थाहरण पर दो अध्याय, पूरे के पूरे, लिख डाले। कल्पनाभेद, ऋतुभेद, शिष्यभेद, व्युत्पत्तिभेद,

वाक्यभेद, काव्य-योनि, कवि-समय आदि विषयों पर जो कुछ इन्होंने लिखा है, उपलब्ध ग्रन्थों में वह और कहीं नहीं पाया जाता। पुस्तक गद्य में है। गद्य सूत्र-सदृश, छोटे छोटे, वाक्यों में है। पर उदाहरण सब पद्यों में हैं। ये पद्य बड़े ही मनोहारी हैं। इसका दूसरा नाम कवि-रहस्य है। पुस्तकारम्भ में एक आलोचनात्मक विस्तृत भूमिका, अँगरेज़ी में, है। अन्त में २७ पृष्ठों में नोट हैं। और भी कितनी ही ज्ञातव्य बातें इस पुस्तक में हैं। आरम्भ में तालपत्र की पुस्तक के दो पत्रों का फोटो भी है। बड़े अच्छे टाइप में, मोटे चिकने काग़ज़ पर, पुस्तक छपी है। आकार बड़ा है। मूल्य २ रुपया है। इसका सम्पादन मिस्टर सी० डी० दलाल, एम० ए० और अनन्तकृष्ण शास्त्री ने किया है।

दूसरी पुस्तक नरनारायणानन्द महाकाव्य के प्रणेता धोलका (गुजरात) के चक्रवर्ती राजा वीरधवल के महामन्त्री वस्तुपाल हैं। यह पुरुष बड़ा विद्वान्, बड़ा दानी, बड़ा कवि वत्सल और बड़ा वीर था। यह स्वयं बहुत अच्छा कवि था। आबू के पहाड़ पर इसके बनवाये हुए मन्दिर अब तक इसके कृति-कलाप के परिचायक हैं। अनेक प्रशस्तियों और शिलालेखों में इसकी प्रशंसा लिखी हुई मिलती है। प्रबन्ध-चिन्तामणि और चतुर्विंशति-प्रबन्ध में भी इसका कृति-गान है। इसके सिवा सोमेश्वर, अरिसिंह, बालचन्द्र आदि ने भी इसकी महिमा का गान किया है। बालचन्द्र आदि ने वसन्त-विलास नामक एक महाकाव्य और जिन-हर्ष ने वस्तुपालचरित नामक एक ग्रन्थ लिख कर इसकी कीर्त्ति को अजरामर कर दिया है। इसका दूसरा नाम वसन्तपाल भी था। यह इतना उदार-हृदय था कि १८ करोड़ रुपया ख़र्च करके इसने हज़ारों, लाखों ग्रन्थ लिखवा कर जैन भाण्डारों में भरे थे। मुसलमानों पर भी इसकी कृपा थी। उनके लिए इसने ६४ मसज़िदें बनवा दी थीं। तालाब,

कुवें, मन्दिर, औषधालय, पान्थशालायें आदि इसने कितनी बनवाईं, इसकी तो गिनती ही नहीं।

वस्तुपाल के इस महाकाव्य में १६ सर्ग हैं। उनमें कृष्णार्जुन की मैत्री, गिरनार-पर्वत पर उनका भ्रमण और अर्जुन द्वारा सुभद्रा का हरण वर्णन किया गया है। मुख्य कथा इतनी ही है। चन्द्रोदय, सुरापान, पुष्पावचय आदि वर्णनों का विस्तार इस लिए किया गया है जिससे यह महाकाव्य के लक्षणों से समन्वित हो जाय। वस्तु-पाल का समय सन् ईसवी के तेरहवें शतक का उत्तरार्ध है। उसी समय इस काव्य का निर्माण हुआ है।

वस्तुपाल की कविता बड़ी हृदय-हारिणी है। उसके पद्यों का अवतरण उसके बाद के अनेक कवियों ने, अपने अपने ग्रन्थों में; किया है। कवियों के लिए तो वह कल्पवृक्ष ही था। सोमेश्वर, हरिहर, दामोदर, नानाक, जयदेव, मदन आदि कवि उसकी कृपा से मालामाल हो गये। इन लोगों ने उसे लघु भोजराज की पदवी दी थी। पर वस्तुपाल अपने को सरस्वती का धर्म्मपुत्र समझता था। उसने इस महाकाव्य में स्वयं ही लिखा है—

नरनारायणानन्दो नाम कन्दो मुदामिदम्।
तेने तेन महाकाव्यं वाग्देवीधर्म्मसूनना॥

इसी के आगे, पुस्तकान्त में, उसने अपनी अल्पज्ञता और नम्रता दिखाते हुए यह भी लिखा है कि इस काव्य का निर्म्माण मैंने "सपदि" अर्थात् बड़ी शीघ्रता से किया है। अतएव अवलोकन करते समय पण्डितों को कृपा पूर्वक इसके दोष दूर कर देना चाहिए, यथा—

उद्भास्वद्विश्वविद्यालयमयमनसः कोविदेन्द्रा वितन्द्रा
मन्त्री बद्धाञ्जलिर्वो विनयनतशिरा याचते वस्तुपालः।

अल्पप्रज्ञाप्रबोधादपि सपदि मया कल्पितेऽस्मिन्प्रबन्धे
भूयोभूयोऽपि यूयं जनयत नयनक्षेपतो दोषमोषम् ॥

एक कवि ने इस की कविता की प्रशंसा इस प्रकार की है—

पीयूषादपि पेशलाः शशधरज्योत्स्नाकलापादपि
स्वच्छा नूतनचूतमञ्जरिभराद्प्युल्लसत्सौरभाः ।
वाग्देवीमुखसामसूक्तविशदोद्गारादपि प्राञ्जलाः
केषां न प्रथयन्ति चेतसि मुदः श्रीवस्तुपालोक्तयः ॥

अर्थात् वस्तु-पाल की उक्तियाँ पीयूष से भी अधिक पेशल, कलाधर की कलाओं से भी अधिक स्वच्छ, आममञ्जरी की सुगन्धि से भी अधिक सुगन्धिपूर्ण और सरस्वती के मुख से निकले हुए सामगान से भी अधिक प्राञ्जल हैं। इस दशा में कौन ऐसा है जिसके हृदय को वे मोद से मत्त न कर दें?

ऐसे लोकोत्तर कवि के इस महाकाव्य की एक प्रति पाटन के पुस्तक-भाण्डार में मिली। वह विक्रम-संवत् १४७७ की लिखी हुई है। उसी के आधार पर इस काव्य का सम्पादन हुआ है। सुन्दर, साफ और बड़े टाइप में, अच्छे काग़ज़ पर, यह छपा है। आरम्भ में वस्तुपाल और उसके पत्नी-युग्म की मूर्तियों का एक चित्र है। आबू के वस्तुपाल-मन्दिर से इनका चित्र प्राप्त किया गया है। पुस्तकारम्भ में एक गवेषणापूर्ण प्रस्तावना, अंगरेजी में, है और अन्त में कई परिशिष्ट हैं। उनमें वस्तुपाल-कृत एक स्तोत्र और कुछ सूक्तियाँ हैं। वस्तुपाल की कीर्ति और दान के विषय में जो कुछ लिखा गया है उसमें से भी कुछ बातें तीन चार ग्रन्थों से उद्धृत की गई हैं। इन परिशिष्टों को पढ़ने से भोजप्रबन्ध का जैसा आनन्द मिलता और कौतूहल होता है। कुछ नमूने लीजिए। अपने स्वामी वीरधवल के मरने पर वस्तुपाल ने इस प्रकार दुःख-प्रकाशन किया—

आयान्ति यान्ति च परे ऋतवः क्रमेण
सञ्जातमत्र ऋतुयुग्ममगत्वरन्तु।
वीरेण वीरधवलेन विना नितान्तं
वर्षा विलोचनयुगे हृदये निदाघः॥

और ऋतु तो यथाक्रम आती हो जाती रहती हैं, पर वीरधवल के बिना अब जो दो ऋतुएँ आ गई हैं सो कभी जाने ही वाली नहीं—नेत्रयुग्म में तो वर्षा सदा के लिये उपस्थित हो गई है और हृदय में सदा के लिये निदाघ।

यह वस्तुपाल की सूक्ति का उदाहरण हुआ। और कवियों ने उसके दानादि के विषय में क्या कहा है, इसके भी दो एक नमूने सुन लीजिए।

एक दफे वीरधवल ने वस्तुपाल को बहुत सा रुपया दिया। परन्तु अपने घर पहुँचने के पहले ही उसने उसे कवियों, पण्डितों और अन्य दानपात्रों को दे डाला। उसके रिक्तहस्त हो जाने पर एक कवि ने उसे यह श्लोक सुनाया—

श्रीमन्ति दृष्ट्वा द्विजराजमेकं पद्मानि सङ्कोचमवाप्नुवन्ति।
समागतेऽपि द्विजराजलक्षे सदा विकासी तव पाणिपद्मः॥

अर्थात् एक ही द्विजराज (चन्द्रमा) को देख कर श्रीमान् (शोभाशाली) कमल सङ्कुचित हो जाते हैं। पर एक क्या एक लाख द्विजराजों (द्विजन्माओं) के आ जाने पर भी आपका पाणिपद्म विकसा ही बना रहता है; वह बन्द होता ही नहीं।

यह सुनकर वस्तुपाल ने सिर नीचा कर लिया। उसे लज्जा हुई कि इस समय पास कुछ भी नहीं; इस कवि को क्या दूँ? इससे वह अधोवदन होकर नीचे पृथ्वी की ओर देखने लगा। कवि उसकी चेष्टा से उसके हृदय की बात ताड़ गया। वह तत्काल ही फिर बोल उठा—

एकस्त्वं भुवनोपकारक इति श्रुत्वा सतां जल्पितं
लज्जानम्रशिरा धरातलमिदं यद्वीक्षसे वेद्मि तत् ।
वाग्देवीवदनारविन्दतिलक श्रीवस्तुपाल ध्रुवं
पातालाद्बलिमुद्दिधीर्षुरसकृन्मार्गं भवान् मार्गति ॥

सज्जनों के मुख से यह सुनकर कि आप अकेले इस महीतल के नहीं, किन्तु सारे भुवन के उपकारकर्ता हैं, आपने लज्जित होकर नीचे ज़मीन पर जो अपनी आँखें गाड़ सी दी हैं, इसका कारण मैं समझ गया। बलवत् पाताल को निकाल दिये गये बलि को उद्धार करने के लिए आप मार्ग ढूँढ़ रहे हैं। आप यह देख रहे हैं कि ज़मीन को किस जगह फाड़ कर पाताल चला जाऊँ और वहाँ से बेचारे बलि को निकाल लाऊँ।

यह सुन कर वस्तुपाल ने सोने की जीभ बनवा कर उसे दान कर दी।

एक बार देवपत्तन नामक नगर से कुछ पुजारी भट्ट आये। उनसे वस्तुपाल ने पूछा—कहिए शिव जी की पूजा-अर्चा बराबर होती है न? इस पर उन लोगों ने कहा—

नादत्ते भसितं सितं सचिव ते कर्पूर-पूरं स्मरन्
कौपीने न च तुष्यति प्रभुरसौ शंसन्दुकूलानि ते।
दिग्धोदुग्ध भरैर्जलेषु विमुखः श्रीवस्तुपाल त्वया
कर्पूरागुरुपूरितः पशुपतिर्नो गुग्गुलं जिघ्रति ॥

मन्त्रिमहाराज हम लोगों के पशुपति जी का हाल कुछ न पूछिए। हमारी की हुई पूजा वे ग्रहण ही नहीं करते। आपके कर्पूरपूर की याद करके वे सफेद भसम का खौर लगाते ही नहीं

देते। वे तो आपके बहुमूल्य दुकूलों की प्रशंसा किया करते हैं। लँगोटी से अब उन्हें तृप्ति कहाँ? जल से उनकी तुष्टि नहीं; वे आपके दुग्ध-सिंचन ही का स्मरण किया करते हैं। आपने उन्हें कर्पूर और अगरू की ऐसी चाट लगा दी है कि अब वे गूगल सूँघते ही नहीं। पूजा हो तो कैसे हो?

इन लोगों को मन्त्री ने दस हज़ार रुपये या दिरम दिये।

एक बार अमरचन्द्र मुनि के दर्शनार्थ वस्तुपाल गये। मुनि जी काव्य-चर्चा कर रहे थे। दरवाज़े पर पहुँचते ही मन्त्री ने मुनि महाराज को यह श्लोकार्द्ध कहते सुना—

असारे खलु संसारे सारं सारङ्गलोचना।

यह सुन कर वस्तुपाल को आश्चर्य और खेद हुआ। उन्होंने मन में कहा—यह मुनि होकर स्त्रियों की चर्चा कर रहा है। मन्त्री जी भीतर गये तो मुनि जी का वन्दन किये बिना ही बैठ गये। मुनि महाशय इसका कारण समझ गये। अतएव तत्काल ही उन्होंने पूर्वोक्त श्लोकार्द्ध की पूर्ति इस प्रकार कर दी।

यत्कुक्षिप्रभवा एते वस्तुपाल भवादृशाः।

यह सुन कर वस्तुपाल का क्षोभ जाता रहा और उन्होंने श्रद्धापूर्वक अमरचन्द्र मुनि का वन्दन किया।

ऐसी ही और भी अनेक सूक्तियाँ और वस्तुपाल की प्रशंसा से पूर्ण कवितायें पुस्तकान्त के परिशिष्टों में हैं।

मूल्य इस पुस्तक का सवा रुपया है।

[मार्च १९१७]

[२]

किसी समय भारत में अनन्त ग्रन्थरत्न थे। काल-प्रभाव और राज्यक्रान्ति आदि कारणों से उनका अधिकांश नष्ट हो गया। इससे भारत की जो हानि हुई है उसकी इयत्ता नहीं। अन्य हानियों की पूर्ति हो सकती है, पर इस तरह की हानि की पूर्ति सम्भव नहीं। लाखों ग्रंथ विदेश चले गये। तिस पर भी अभी, मालूम नहीं, कितना हस्तलिखित ग्रंथ-समुदाय प्राचीन पुस्तकालयों में कृमि-कीटों का खाद्य बन रहा है। इन ग्रंथ-रत्नों का कुछ कुछ पता कुछ समय से लगने लगा है। जब बम्बई से काव्य-माला का निकलना आरम्भ हुआ तब लोगों की आँखें सी खुल गईं। अनेक नई नई पुस्तकें देखने में आईं। जिनका उल्लेख टीकाकारों की टीकाओं में ही मिलता था वे पढ़ने को मिलने लगीं। इसके बाद मदरास, माइसोर, ट्रावनकोर आदि से भी पुस्तक-मालायें निकलीं। कुछ प्राचीन पुस्तकें गवर्नमेंट ने, कुछ एशियाटिक सोसाइटी ने, कुछ अन्य देशों के विद्वानों ने भी प्रकाशित कीं। पर इतने से भी उनकी संख्या कम न हुई; दिन पर दिन बढ़ने सी लगी। नवीन नवीन ग्रन्थों के अस्तित्व का पता लगने लगा। तब मालूम हुआ कि अब भी भारत के प्राचीन ग्रन्थों में अपरिमेय ज्ञानराशि छिपी पड़ी है। इस राशि का उद्घाटन या जीर्णोद्धार करने के इरादे से बौद्धों, जैनों और कुछ अन्य सज्जनों ने भी प्रयत्न आरम्भ कर दिया। तांजोर, पाटन और जैसलमेर आदि के पुस्तकागारों की पुस्तकों की सूचियाँ तैयार हुईं। इन सब पुस्तकों के प्रकाशन से भारत के पूर्व वैभव का जो पता लगेगा उससे हम लोगों का नत मस्तक कुछ तो अवश्य ही उन्नत हो जायगा।

महाराजा बड़ोदा के राज्य में कई प्राचीन पुस्तकालय हैं। उन्होंने भी अब इन पुस्तकालयों की पुस्तकों के उद्धार की आज्ञा दे दी है। बड़ोदे से जो प्राच्य-पुस्तक-माला (Gaikwad's Oriental Series) निकलने लगी है उसका उल्लेख हो ही चुका है। इस माला की तीन पुस्तकें हमें और मिली हैं—

(१) तर्क-संग्रह।
(२) राष्ट्रौढ़वंश-महाकाव्य।
(३) पार्थ-पराक्रम।

ये तीनों पुस्तकें अच्छे काग़ज़ पर, सुन्दर टाइप में, छपी हैं। टाइप बड़ा है। ऊपर काग़ज़ की पतली जिल्द है। सम्पादन सब का बड़ी योग्यता से हुआ है। आरम्भ में एक विस्तृत भूमिका, अँगरेज़ी में, है। उसमें पुस्तक, पुस्तककर्ता तथा अन्य अनेक महत्व-पूर्ण विषयों पर विचार किया गया है। बड़ोदे के सेंट्रल लाइब्रेरी के अध्यक्ष को लिखने से ये पुस्तकें मिल सकती हैं।

तर्क-संग्रह—यह न्यायशास्त्र का ग्रंथ है। इसके कर्ता का नाम आनन्द-ज्ञान या आनन्दगिरि था। वे संन्यासी थे। यह नाम संन्यास लेने के बाद का है। गृहस्थाश्रम का नाम था—जनार्दन। पुस्तक की भूमिका में सम्पादक, टी० एम० त्रिपाठी, बी० ए०, ने इनके विषय में अनेक बातें लिखी हैं। उनसे ज्ञान पड़ता है कि आनन्द-ज्ञान जी द्वारका के शारदा-मठ के आचार्य्य थे। उनके विद्या-गुरु सारस्वत-व्याकरण के कर्त्ता अनुभूति-स्वरूपाचार्य्य और दीक्षा-गुरु श्रद्धानन्द नाम के संन्यासी थे। आनन्दगिरि का समय ईसा की चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। इसमें सन्देह नहीं कि आनन्दगिरि महाविद्वान् थे। सम्पादक त्रिपाठी जी ने इनके रचे हुए १५ ग्रंथों के नाम दिये हैं, जो छप चुके हैं। सात ऐसे ग्रंथों के भी नाम आपने दिये हैं जो अब तक छपे नहीं।

और भी दस बारह ग्रन्थों के नाम आपने बताये हैं जिनके विषय में अभी सन्देह है। सम्भव है वे भी सभी या उनमें से कुछ आनन्दगिरि ही के लिखे हुए हों।

प्रस्तुत पुस्तक को अन्नंभट्ट का रचित वह छोटा तर्क-संग्रह न समझना चाहिए जो काशी की प्रथमा परीक्षा का पाठ्य-ग्रंथ है। आनन्दगिरि का तर्क-संग्रह बड़ा गहन ग्रंथ है। उसमें लेखक ने वैशेषिक-दर्शन के सिद्धान्तों का खण्डन, बड़ी योग्यता से, किया है। उन्होंने भेदवाद या द्वैत-भाव मानने वालों की उक्तियों की धज्जियाँ उड़ा दी हैं। आनन्दगिरि बड़े उद्भट तार्किक थे। आपने अद्वैत-अभेदवाद या वेदान्त का समर्थन अखण्डनीय युक्तियों से किया है।

इस पुस्तक की केवल एक ही प्रति पाटन के एक ग्रंथ-भाण्डार से प्राप्त हुई थी। उसी के आधार पर इसका सम्पादन हुआ है। जो लोग संस्कृत नहीं जानते वे भी इसके आरम्भ के २२ पृष्ठव्यापी उपोद्घात से इस ग्रंथ तथा इसके कर्ता के सम्बन्ध की मुख्य मुख्य बातें जान सकते हैं।

राष्ट्रौढ-वंश—महाकाव्य—राष्ट्रौढ-शब्द हिन्दी "राठौड़" का संस्कृत-रूप है। अर्थात् इस काव्य में राठौड़-वंश का वर्णन है। इसके कर्ता का नाम रुद्र कवि है। वह दाक्षिणात्य था। उसके पिता का नाम अनन्त और पितामह का केशव था। मयूरगिरि के राजा नारायणशाह और उसके पुत्र प्रतापशाह के समय में वह विद्यमान था—उन्हीं का आश्रित था। इस काव्य की रचना उसने १५१८ शक (१५९६ ईसवी) में की। इस कवि के एक और काव्य का भी पता लगा है। उसका नाम है जहाँगीरशाह-चरित। लक्ष्मण पण्डित नाम के एक आदमी से राठौड़-वंश का वर्णन सुन कर उसने इस महाकाव्य की रचना की है। उसने लिखा है—

शाके भोगिशशीषुभूपरिमिते संवत्सरे दुर्मुखे
मासे चाश्वयुजे सितप्रतिपदि स्थाने मयूराचले।
श्रीमल्लदमणपण्डितोदितप्रथामाकर्ण्य रुद्रः कविः
श्रीनारायणशाहकीर्तिरसिकं काव्यं व्यधान्निर्मलम् ॥

अपने विषय में आप ने लिखा है—

आसीत्कोऽपि महीमहेन्द्रमुकुटालङ्कारहीरावली-
तेजःपुञ्जनितान्तरञ्जितपदः श्रीकेशवाख्यो बुधः।
विद्वन्मण्डलमण्डनं समभवत्तस्मादनन्ताभिध-
स्तत्पुत्रो जगदम्बिकांघ्रिकमलद्वन्द्वार्चनाप्राप्तधीः ॥
राष्ट्रौढक्षितिपालवंशमुकुटालंकारचूडामणि-
श्रीनारायणशाहजीवनविधेः सत्कीर्तिमुक्तावलीम्।
विद्वत्कुण्डलभूषणानि विशदश्लोकैरगुम्फद्गुणा—
स्फारैः पंडितमण्डलाम्बुजरविः श्रीरुद्रनामा कविः ॥

इससे पाठक देखेंगे कि इस कवि ने नैषध-चरितकार श्रीहर्ष के मार्ग का अनुसरण किया है। जिस प्रकार श्री-हर्ष ने अपने माता-पिता का नाम दिया है उसी तरह इसने भी अपने पिता पितामह का नाम दिया है। श्रीहर्ष ने लिखा है कि मुझे चिन्ता-मणि-मन्त्र के प्रभाव से कवित्वशक्ति प्राप्त हुई है। रुद्र-कवि का कहना है कि जगदम्बिका की पादपद्म-सेवा से मुझे बुद्धि की प्राप्ति हुई है। यह भी सम्भव है कि रुद्र कवि की माता का नाम जगदम्बिका रहा हो। श्रीहर्ष की उक्ति है—

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुतं।
श्रीहीरः सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी च यम् ॥

रुद्र ने श्री-हर्ष के "मुकुटालङ्कारहीरः" पद को प्रायः ज्यों का त्यों उठा कर ऊपर के श्लोक में रख दिया है। इसके सिवा श्रीहर्ष

ही के सदृश प्रत्येक सर्ग के अन्त में आपने भी एक एक श्लोक वैसा ही लिखा है। यथा—

श्रीमद्बागुलभूमिपालतिलकश्रीशाहनारायण-
स्फूर्जित्कीर्तिचरित्रचित्रितपदे राष्ट्रौढवंशाभिधे।
भव्ये दक्षिणदिग्भवेन कविना रुद्रेण सृष्टे महा-
काव्येऽस्मिन्कृतवैरिवीरविजयः सर्गस्तु विंशोऽगमत्॥

इस प्रकार, केवल अन्तिम चरण में, कथानुसारी परिवर्तन करके आपने सब सर्गों के अन्त में यही श्लोक दिया है। सर्गों की संख्या २० है। श्रीहर्ष के काव्य की छाया भी रुद्र के काव्य में जगह जगह पाई जाती है। इससे मालूम होता है कि यह कवि श्रीहर्ष का भक्त था। नैषधचरित इसे खूब याद था। उसे यह बहुत पसन्द करता था। इसीसे उसका अनुसरण इसने किया है।

इस काव्य का सम्पादन अम्बर कृष्णमाचार्य नाम के एक विद्वान् ने किया है और इस की भूमिका सी० डी० दलाल, एम० ए०, महाशय ने, अंगरेज़ी में, लिखी है। भूमिका में कवि, काव्य, मयूरगिरि, नारायणशाह, प्रतापशाह आदि के सिवा उस समय के आवश्यक इतिहास और काव्य का सारांश भी दलाल महाशय ने दिया है। राठोड़ों के वंश का वर्णन, तत्कालीन राजनैतिक अवस्था तथा और भी अन्यान्य बातों का उल्लेख आपने किया है। इससे इस काव्य का महत्व बढ़ गया है और इसमें वर्णन की गई घटनायें समझने में बहुत सहायता मिलती है। यह काव्य यद्यपि ऐतिहासिक है तथापि इसमें कहीं कहीं कुछ प्रमाद भी है। उसका ज्ञान भूमिका पढ़ने से अच्छी तरह हो जाता है।

नारायणशाह और उसके पूर्वजों का वर्णन मुसलमानों के लिखे हुए इतिहास-ग्रन्थों में भी मिलता है। इनका देश बागलाना

कहलाता था। इस वंश के आदि पुरुष, बागुल के नाम पर उसका नामकरण हुआ है। ये लोग अपने को राठोड़-वंशी कहते थे। इनकी उत्पत्ति, राज्यप्राप्ति, शासन और उत्कर्ष आदि का वर्णन रुद्र कवि ने, ख़ूब नमक-मिर्च लगा कर, किया है।

इस वंश के नरेशों की राजधानी मयूरगिरि या मयूराचल थी। उसका वर्तमान नाम मुल्हेर है। यह नगर पहले खानदेश के अन्तर्गत था। अब नासिक ज़िले में है। यह पहाड़ पर बसा हुआ है। अब प्रायः उजाड़ है। किसी समय इसकी ख़ूब उन्नति थी। इसका क़िला बहुत मज़बूत था। सात वर्षों तक घेरे जाने पर भी वह मुसलमानों के कब्ज़े में न आया। तब अकबर ने राजा से सुलह कर ली। उसे उलटा कुछ दिया और यह वादा करा लिया कि अब से हमारे मुल्क में लूट मार न होने पावे। देहली और दक्षिण के बीच का मार्ग सुरक्षित रखना। राजा ने कहा—बहुत अच्छा। इसके बाद मयूरगिरि के अधिकारियों ने मुसलमानों की मदद भी बहुत की। कई लड़ाइयों में वे शामिल रहे और बड़ी वीरता दिखाई।

इन्हीं सब घटनाओं का वर्णन रुद्र-कवि ने इस महाकाव्य में किया है। इसके आरम्भ के कुछ सर्ग वंशादि वर्णन से भरे हुए हैं। बीच के कई सर्ग—१४ से १७ तक—जल विहार, ऋतु-वर्णन आदि लिखने में ख़र्च हो गये हैं। ऐसा न करने से इसकी गिनती महाकाव्य में कैसे होती?

रुद्र-कवि की कविता में एक गुण बड़ा भारी है। वह है—प्रसादगुण। आप अनुप्रास के बड़े भक्त थे। पर अनुप्रास की सिद्धि में प्रसाद-गुण नष्ट नहीं होने पाया। उदाहरण—

तदीयसूनुर्महनीयसेनः पराक्रमन्यक्कृतभीमसेनः ।
शशास भूमीमथवीरसेनः प्रतापसंशोषितवीरसेनः ॥१॥
नृपेण तेनाजनि कान्तिवीरः प्रचण्डमार्तण्डकुलैकवीरः ।
यात्रासु पङ्कीकृतसिन्धुनीरः परावलीदीपशिखासमीरः ॥२॥
[द्वितीय सर्ग]

आनन्दसन्दोहगलन्मरन्दे कालीचलापाङ्गमिलन्मिलिन्दे ।
सानन्दवृन्दारकवृन्दवाद्ये वन्दे महादेवपदारविन्दे ॥२७॥
कात्यायनीकेलिविलासलोलं समुल्लसत्कुञ्जरचर्मचोलम् ।
वक्षस्थलव्यालफणावचूलं चेतश्चिरं चिन्तय चन्द्रचूडम् ॥२९॥
[पञ्चम सर्ग]

पार्थ पराक्रम—यह व्यायोग नाम का रूपक है। परमार प्रह्लादन-देव इसका कर्ता है। इसका सम्पादन पूर्वोक्त चिमन लाल डी० दलाल महाशय, एम० ए०, ने किया है। आपने आरम्भ में एक अच्छा उपोद्घात, अँगरेज़ी में, जोड़ दिया है। इसका लेखक संवत् १२२० और १२६५ के बीच विद्यमान था। वह आबू के परमार राजा धारावर्ष का छोटा भाई था। वह बहुत समय तक युवराज-पद पर भी अधिष्ठित था। इन परमारों की राजधानी चन्द्रावती नगरी थी। वर्तमान पालनपुर इसी प्रह्लादनदेव का बसाया हुआ है। यह राजकुमार कवि, कविवत्सल, सुभट और अच्छा विद्वान् था। सोमेश्वर कवि ने इसकी प्रशंसा में लिखा है—

देवी सरोजासनसम्भवा किं कामप्रदा किं सुरसौरभेयी ।
प्रह्लादनाकारधरा धरायामायातवत्येष न निश्चयो मे ॥

धारावर्ष की आज्ञा से एक उत्सव में खेले जाने के लिए इसकी रचना प्रह्लादन ने की थी। इसकी कथा महाभारत के विराटपर्व से ली गई है। दुर्योधन विराट-राज की गायें हरण कर

रहा था। उसे परास्त कर के अर्जुन ने गायें छुड़ा ली थीं। अर्जुन के उसी पराक्रम का वर्णन इस पुस्तक में है। इसमें प्रधान रस वीर है। कविता ओजस्विनी है। भाषा गद्यपद्यात्मक है। दो एक उदाहरण—

धृतराष्ट्रसुतैर्दृष्टः किरीटी विश्वतोमुखः।
एकोऽप्यनेकधा वल्गन्नात्मा नैयायिकैरिव॥

नैयायिक जिस तरह एक आत्मा को अनेक रूपों में देखते हैं उसी तरह धृतराष्ट्र-सुतों को सब तरफ़ अर्जुन ही अर्जुन दिखाई दिये।

शून्ये राष्ट्रे प्रविष्टोऽयमाहर्तुं सुरभीरिमाः।
कर्णौ निष्कृत्य पार्थेन मुक्तः कौरवकुक्कुरः॥

इस श्लोक में दुर्योधन के लिए कुक्कुर (कुत्ते) की पदवी देना ज़रा खटकता है।

भूमिका के पृष्ठ २ के नोट नम्बर ४ में "नाकनायकसभास्तम्भेन"—इस अंश में "नाक" शब्द रह गया है!

यह पुस्तक भी पाटन के पुस्तक-भाण्डार की दो प्रतियों के आधार पर सम्पादित हुई है।

[अप्रेल १९१८]

पृथिवी-प्रदक्षिणा

[६]

कूप-मण्डूक भारत, तुम कब तक अन्धकार में पड़े रहोगे। प्रकाश में आने के लिए तुम्हारे हृदय में क्या कभी सदिच्छा ही नहीं जागृत होती? पक्षहीन पक्षी की तरह क्यों तुम्हें अपने पींजड़े से बाहर निकलने का साहस नहीं होता? क्या तुम्हें अपने पुराने दिनों की कभी याद नहीं आती? किन दिनों की, जानते हो? उन दिनों की जब तुम्हारे जहाज़ फ़ारिस की खाड़ी और अरब के सागर में चलते थे और जब तुम्हारे व्यवसाय-निपुण निवासियों ने, सहस्रों की संख्या में, मिस्र, ईरान और यूनान के बड़े बड़े नगरों में कोठियाँ खोल रक्खी थीं। उन दिनों की जब ब्रह्मदेश, श्याम, अनाम और कम्बोडिया ही में नहीं, मलय-प्रायद्वीप के जावा और बाली आदि टापुओं तक में, तुम्हारा गमनागमन था और जब तुमने उन दूरवर्ती देशों और द्वीपों में भी अपने उपनिवेश स्थापित किये थे। उन दिनों की जब तुम्हारे बौद्ध-भिक्षु और अन्य विद्वज्जन गान्धार, तुर्किस्तान और चीन तक के निवासियों को अपने धर्म्म, अपनी विद्या और अपने विज्ञान का दान देने के लिए वहाँ तक पहुँचे थे। उन दिनों की जब खोस्त और यारकन्द के समीपवर्ती अगम्य प्रदेशों में भी तुम्हारे धर्म्माचार्य्यों ने बड़े बड़े मठों, मन्दिरों, स्तूपों और चैत्यों की स्थापना की थी।

धर्म्मध्वजी हो कर भी धर्म्मान्ध भारत, क्या समुद्रयात्रा करने से तब भी तुम्हारी जाति जाती थी? अन्यधर्म्मावलम्बियों के संसर्ग से क्या तब भी तुम्हें कृच्छ्र-चान्द्रायण करना पड़ता था? हूणों, शकों, चीनियों और गान्धार, तुर्किस्तान, यूनान आदि देशों के निवासियों को छू जाने पर क्या तब भी तुम सचैल स्नान करते

थे ? जिस समय तुम्हारे सैकड़ों धर्म्मधुरीण शास्त्री चीन में बैठे हुए धर्म्मचर्चा करते और ग्रन्थ-निर्म्माण के कार्य्य में लग्न रहते थे उस समय उनके चौके लगाने के लिए क्या तुम्हारी ही भूमि से चिकनी मिट्टी और गोबर जाता था ? क्या उनके पीने के लिए पानी और खाने के लिए आमान्न भी बनजारों के बैलों पर लद कर यहाँ से रवाना होता था ? कुछ तो अपनी स्मरण-शक्ति से काम लो; कुछ तो अपने प्राचीन इतिहास के पन्ने उलटो; कुछ तो अपनी वर्तमान अधोगति के कारणों का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करो। छुवाछूत के पीछे पागल होने वाले न तो केरल के नम्बूदरी ब्राह्मणों के सदृश यहाँ, उस समय, ब्राह्मण ही थे और न जहाज़ पर गङ्गाजल लाद कर इँगलिस्तान जाने वाले महाराजा जयपुर के सदृश यहाँ महामहिम महीपाल ही थे। यह कुछ न था। इसीसे तो तुम्हारा राज्य दूसरे देशों पर भी था, इसीसे भिन्न देशवासी तुम्हें अपना गुरु समझते थे और इसी से तुम्हारी भूमि लक्ष्मी की लीला-भूमि हो रही थी।

दूर कर दो अब अपने अज्ञान, धर्म्मान्ध और अकर्म्मण्यता को। निकलो घर से बाहर। देखो तो संसार में कैसे कैसे परिवर्तन हो रहे हैं। देखो तो कितने अधःपतित देश समुन्नत हो गये। देखो तो कितनी क्रियाशील जातियाँ अपने पुराने वन्य भाव को छोड़ कर सभ्य और शिक्षित बन गईं। इन परिवर्तनों के कारणों की खोज करो और तुम भी अपने दुर्भाग्य पर रोना छोड़ कर उन्हीं के सदृश अपनी उन्नति आप ही करने की चेष्टा में लग जाव। बिना देश-विदेश गये—बिना पर्य्यटन किये—तुम्हारी आँखें खुलने की नहीं। ज़रा काशी के रईस, बाबू शिवप्रसाद गुप्त, की पृथिवी-प्रदक्षिणा नामक पर्य्यटन-पुस्तक का अवलोकन ही कर डालो। देखो उसमें उन्होंने तुम्हें कितने उलाहने दिये हैं; तुम्हारी नादानी

पर कितने आँसू बहाये हैं; तुम्हारी कूप-मण्डूकता पर कितना विलाप किया है और तुम्हें जगाने के लिए कितनी गंभीर गर्जना की है। उसे पढ़ लेने से तुम्हें देशाटन की महिमा अच्छी तरह मालूम हो जायगी।

गुप्तजी की पुस्तक का आकार बड़ा है। ऊपर सुन्दर और मज़बूत जिल्द है। छपाई नितान्त नयनाभिराम और काग़ज़ मोटा तथा चिकना है। इतनी अच्छी छपी हुई पुस्तकें हिन्दी में हमने बहुत कम देखी हैं। पुस्तक सचित्र है। चित्र-संख्या २५८ है। उनमें से २१४ चित्र पूरे पृष्ठ पर छपे हैं। चित्रों में एक विशेषता और भी है। वह यह कि ३६ चित्र रङ्गीन हैं। इसके सिवा रङ्गीन नक़शे भी ६ हैं। वे हैं—भूमण्डल, मिस्र, अमरीका, जापान, पोर्टआर्थर और चीन के। इन नक़शों में वह मार्ग भी चिह्नित है जिससे पर्य्यटक महोदय ने भिन्न भिन्न देशों में भ्रमण किया है। यों तो उपोद्घात, विषय-सूची, भूमिका और अनुक्रमणिका आदि मिला कर पुस्तक की पृष्ठ-संख्या कोई साढ़े चार ही सौ है; परन्तु चित्रों की पृष्ठ-संख्या जोड़ देने से वह ७०० के लगभग पहुँच जाती है। पुस्तक की तैयारी में २२,५०० रुपये ख़र्च हुए हैं। इसी से एक कापी का मूल्य १५) रखना पड़ा है। इसकी १५०० कापियाँ छपी हैं। अतएव काशी का ज्ञान-मण्डल प्रेस इसे लागत के परते पर ही बेच रहा है; मुनाफ़े के लिए उसने ज़रा भी साँस नहीं रक्खी।

पुस्तक को लेखक ने अपनी पत्नी, श्रीमती भगवती देवी, को उपहार के तौर पर अर्पण किया है। आप अपनी वामाङ्गिनी की जानकारी के लिए अपना भ्रमण-वृत्तान्त प्रायः प्रतिदिन लिखते गये थे। इसी से पुस्तक को आपने उन्हें उपायनवत् प्रदान किया है।

पुस्तक का उपोद्‌घात काशी के विख्यात विद्वान्‌ बाबू भगवान-दास का लिखा हुआ है। वह है तो ८ पृष्ठ व्यापी, परन्तु उसका अधिकांश ऐसी ही बातों से पूर्ण है जिनका सम्बन्ध पुस्तक से कम, भूमिका-लेखक की विद्वत्ता ही से अधिक है। हाँ, अन्तिम पृष्ठ पर बाबू साहब ने देश-भ्रमण से होने वाली ज्ञानवृद्धि और "पृथिवी-प्रदक्षिणा" के गौरव का अवश्य गान किया है।

बाबू शिवप्रसाद गुप्त ने, पुस्तकारम्भ में, अपना संक्षिप्त जीवन-चरित भी दिया है। उसकी भाषा बड़ी मीठी है। उससे उनके स्वभाव की सरलता, आत्मा की उच्चता और हृदय की मनस्विता, बहुत अच्छी तरह, प्रकट होती है। जिन्हें लोग दोष समझते हैं उनका भी उल्लेख करने में आपने ज़रा भी सङ्कोच नहीं किया। आपकी सत्य-प्रीति सर्वथा श्लाघनीय है। आपके इस संक्षिप्त चरित को पढ़ने से जहाँ आपके विचारौदार्य्य और देश-प्रेम आदि गुणों के परिचय से मन मुग्ध हो जाता है, वहाँ आपके साथ सिङ्गापुर में किये गये अमानुषिक अत्याचारों का उल्लेख पढ़ कर हृदय में उत्कट वेदना भी उत्पन्न हुए बिना नहीं रहती। हाय, ऐसे सर्वथा निर्दोष सज्जन के साथ इतना घृणित व्यवहार! भगवान्‌ अत्याचरियों को क्षमा का दान देने की दया दिखावे। इससे अधिक कहने के लिए अपना दुर्भाग्य अनुमति नहीं देता।

पुस्तक चार खण्डों में विभक्त है। पहले में मिस्र के, दूसरे में अमेरिका के, तीसरे में जापान के और चौथे में चीन के पर्य्यटन का वर्णन है। गुप्तजी की यह विदेश-यात्रा काशी से, अप्रेल १६१४ में, आरम्भ हुई थी। उसके २१ महीने बाद आप स्वदेश लौटे। अर्थात्‌ यात्रान्त हुए आठ वर्ष हो चुके। अतएव यात्रा का यह वर्णन बहुत देर से निकला है। गुप्तजी ने इसके कारण बताये हैं। अधिक देरी पुस्तक की सामग्री एकत्र करने और उत्कृष्ट छपाई का

ठीक ठीक प्रबन्ध शीघ्र न हो सकने के कारण हुई। तथापि देर से निकलने पर भी पुस्तक की मनोरञ्जकता और उपादेयता में विशेष कमी नहीं हुई। गुप्तजी के २१ महीने इस तरह खर्च हुए—"जहाज़ व रेल के सफर को छोड़ कर १५ दिन मिस्र में, छः मास इँगलिस्तान व आयरलैण्ड में, छः मास अमरीका में, अढ़ाई मास जापान में, दो मास कोरिया व चीन में, व तीन मास सिङ्गापुर के जेल में"। आपका इरादा योरप के अन्य देशों में भी घूमने का था। परन्तु योरप का पिछला घोर युद्ध उसी बीच में छिड़ गया जब आप इँगलिस्तान में थे। इस कारण उन देशों में आपका भ्रमण असम्भव हो गया।

ऊपर पुस्तक के जिन चार खण्डों के नाम दिये गये हैं उनमें से किसी भी खण्ड में इंगलिस्तान की यात्रा का उल्लेख नहीं। इसका कारण गुप्तजी ही के शब्दों में नीचे दिया जाता है—

"इन जगहों का पूरा हाल सात वर्ष बाद लिखना कठिन ही नहीं असम्भव है, क्योंकि मेरे पास इस सम्बन्ध की कुछ याददाश्त भी नहीं है। इँगलिस्तान की हालत मैंने जानबूझ कर ही नहीं लिखी थी क्योंकि जो मनोवृत्तियाँ वहाँ उठती थीं उनका लिखना उस समय के राजनीतिक विचारों से मेरे लिए अनुचित था और मुझमें इतनी योग्यता भी न थी कि मैं उनको बचा कर लिख सकता। अतः उनके न लिखने का ही उस समय मैंने निश्चय किया था। इसी कारण इस पुस्तक में उनका कुछ विवरण नहीं दिया गया"।

कुछ बातें ऐसी हैं जो तर्क और युक्ति से सदोष नहीं प्रमाणित की जा सकतीं। तथापि जन-समुदाय उन्हें दोष समझता है, और, मनुष्य-स्वभाव कुछ ऐसा है कि वह उन्हें, यदि वे अपने में हों तो, छिपाने की चेष्टा करता है। इसीसे यदि कोई मनुष्य

समाजच्युत हो जाय तो वह, बिना किसी विशेष कारण के, यह नहीं कहता फिरता कि मैं अपनी बिरादरी से ख़ारिज हूँ। परन्तु इस पुस्तक के लेखक ने इन सारे निःसार सामाजिक बन्धनों से अपने को मुक्त समझा है। वे जैसे हैं वैसा ही बताना अपना कर्तव्य सा समझते हैं। दुनिया कुछ भी कहे, कुछ परवा नहीं; मुझमें जो बात है या मेरे विचार जैसे हैं उन्हें छिपाना मैं पाप समझता हूँ। उनका असल मतलब यह जान पड़ता है। दूसरे शब्दों में यही बात इस तरह कही जा सकती है कि वे सत्य के उपासक हैं—सत्य को वे हाथ से नहीं जाने देना चाहते। बात यह कि वे सत्यघन हैं। उनके इस गुण के प्रमाण इस पुस्तक के अनेक स्थलों में पाये जाते हैं। दो चार उदाहरण लीजिए—

(१) विदेश से लौटे हुए एक सज्जन के साथ सम्पर्क रखने के कारण आप काशी के अग्रवाल-समाज से च्युत हैं। इस बात को आपने अपने संक्षिप्त चरित में स्वयं ही लिख दिया है।

(२) आप मूर्तिपूजक नहीं; आर्य्य-समाज के सिद्धान्तों का अनुसरण करनेवाले हैं। इसका भी उल्लेख आपने किया है। परन्तु साथ ही आर्य्यसमाज के गुरुकुलों से सम्बन्ध रखनेवाले सज्जनों के शुष्क वाद-विवाद आदि पर आक्षेप भी किये हैं।

(३) वल्लभाचार्य्य-सम्प्रदाय के गुरु की दी हुई कण्ठी तोड़ फेंकने की घटना लिखने में भी आपको सङ्कोच नहीं हुआ।

(४) विदेश में अभक्ष्य और अपेय पदार्थों को छोड़ कर अन्य खाद्य पदार्थ, विदेशियों के साथ बैठ कर, खाने का उल्लेख आपने कई जगह किया है।

(५) अदन में आपने सुना कि वहाँ हनूमान् जी का एक मन्दिर है। उसे देखने किंवा दर्शन करने गये, तो पुजारी जी ने,

बहुत पूँछ-पाछ के बाद, देवालय के कपाट खोले। इसका कारण आपने यह लिखा है—"मेरे दाढ़ी है और इस समय में कोट-बूट-धारी बन्दर बना हुआ था।"

क्यों गुप्त जी, कोट और बूट के साथ आप हैट को भूल गये? विलायत में क्या आपने उसका बायकाट किया था? ऐसा तो न हुआ होगा। फिर जिस वस्तु ने आपके उत्तमाङ्ग की रक्षा ही नहीं की, किन्तु उसकी शोभा भी बढ़ाई उसका विस्मरण करके आपने उस पर ज़ुल्म ज़रूर किया। हैट-कोट आदि से विभूषित आपका रूप-रङ्ग, कल्पना-द्वारा भी, हमारी आँखों के सामने नहीं आता। हमें तो आप, आँखें बन्द कर लेने पर भी, सदा चौड़े किनारे की धोती, मोटा कुर्ता और देशी जूता ही पहने हुए देख पड़ते हैं। आपकी इस सादगी से सभी को शिक्षा लेनी चाहिए।

पर्य्यटन की बड़ी महिमा है। उससे बड़े लाभ हैं। भारत के प्राचीन पण्डित भी लिख गये हैं कि देशाटन से मनुष्य बहुदर्शी हो जाता है—"देशाटनं पण्डित-मित्रता च" यह जिस श्लोक का पहला चरण है वह इस बात का प्रमाण है। सौ दो सौ वर्ष पहले देशाटन का जितना महत्त्व था, इस समय उससे वह कई गुना अधिक है। बात यह है कि पूर्व-काल में अनेक विषयों में भारत ही और देशों से अधिक समुन्नत था। अतएव औरों से कुछ सीखने की उसे तादृश आवश्यकता न थी। पर अब अवस्था प्रायः उलटी है। अब तो कितने ही देश ऐसे हैं जो भारत से अनेक विषयों में बहुत बड़े चढ़े हैं। इस दशा में उन देशों में घूमना, उनके कला-कौशल का ज्ञान प्राप्त करना, उनकी राजनैतिक प्रगति के कारणों का पता लगाना, उनके सामाजिक संगठन से परिचित होना और उनकी शिक्षा-दीक्षा के तत्त्वों का जानना हमारे लिए परम आवश्यक है। बिना तुलना के—बिना मुक़ाबले के—

किसी वस्तु के गुणदोषों का यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। भारत अधःपतित है; योरप और अमेरिका समुन्नत। ऐसा क्यों है, यह बात विदेश-भ्रमण से बहुत अच्छी तरह जानी जा सकती है और हम अपने अधःपतन के कारणों को दूर करने का इलाज ढूँढ़ निकालने में बहुत कुछ समर्थ हो सकते हैं। इसी से इस समय विदेश-भ्रमण की और भी अधिक आवश्यकता है।

पर्य्यटनविषयक पुस्तकों में विशेष करके तीन गुण होने चाहिए। उनसे मनोरञ्जन होना चाहिए, ज्ञानवृद्धि होनी चाहिए, और कुछ शिक्षा भी मिलनी चाहिए। "पृथिवी-प्रदक्षिणा" में ये तीनों गुण विद्यमान हैं और बहुत अधिक मात्रा में विद्यमान हैं। सच तो यह है कि इस विषय की यह पहली ही पुस्तक हिन्दी में निकली है जिसकी गणना भ्रमण-विषयक अच्छी पुस्तकों में होनी चाहिए। इस विषय की और भी कुछ पुस्तकें हिन्दी में प्रकाशित हो चुकी हैं; पर वे इसके किसी भी अंश के मुक़ाबले में नहीं ठहर सकतीं। फिर इसकी भाषा इतनी सरल और शैली इतनी अच्छी है कि सभी तरह के पाठक पर्य्यटक का आशय सहज में समझ सकते और आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। पुस्तक के सम्पादक ने पर्य्यटक की निज की भाषा में संशोधन करके उसका परिष्कार किया है। यह न होता तो अच्छा था। क्योंकि गुप्त जी की भाषा में एक अदृष्ट-पूर्व मिठास है। उसका ढंग उनका निज का है। उसमें कहीं कहीं जो बनारसी बोली की पुट आ जाती है वह एक नया ही चमत्कार पैदा कर देती है।

अलौकिक, असम्भव और आश्चर्य्यजनक घटनाओं के वर्णन से परिपूर्ण उपन्यासों तथा अन्य पुस्तकों के अवलोकन से कुछ मनुष्यों को अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति होती है। जब तक वे उनके पाठ में लीन रहते हैं तब तक उनकी नींद-भूख तक हर

जाती है। हमारा ख़याल है कि ऐसे लोगों के भी मनोरञ्जन की सामग्री इस पुस्तक में बहुत काफी है। अस्वस्थता की अवस्था में भी हमने इसका बहुत सा अंश पढ़ डाला, पर जी न ऊबा और न सिर में दर्द ही पैदा हुआ। मिस्र के मीनारों और लुकसर के भग्नावशेषों, अमेरिका के नियागरा-नामक विश्वविख्यात जल-प्रपातों और हवाई द्वीप के अग्नि उगलनेवाले ज्वालामुखी पर्वत के गह्वरों आदि के वर्णन पढ़ने से जितना मनोरञ्जन होता है उतना सहस्र-रजनीचरित्र और कथासरित्सागर से भी नहीं हो सकता। पर्य्यटक महाशय ने पुस्तक में कितने ही अद्भुत दृश्यों, अद्भुत पदार्थों और अद्भुत रीतिरस्मों का भी वर्णन, बड़ी ही चटकीली भाषा में, किया है। उसके पाठ से भी मन में कौतूहल की उद्भावना हुए बिना नहीं रहती। इसके सिवा इस "प्रदक्षिणा" में और भी ऐसी सैकड़ों बातें हैं जो यथेष्ट मनोरञ्जक हैं और जिनकी वर्णना पढ़ कर लेखक को हार्दिक धन्यवादरूप-दक्षिणा देने की प्रबल इच्छा मन में उदित होती है।

ज्ञानवृद्धि का तो कहना ही क्या है। पुस्तक का एक पृष्ठ भी शायद ऐसा न होगा जिसमें साधारण जनों की ज्ञानवृद्धि की कुछ न कुछ सामग्री न पाई जाय। जो जिस बात को नहीं जानता, फिर चाहे वह कितनी ही छोटी बात क्यों न हो, उसे जान लेने से भी मनुष्य की ज्ञानवृद्धि होती है। फिर इस पुस्तक में तो ऐसे अनेक दृश्यों, देशों, व्यवसायों, शिक्षालयों और राजनैतिक विषयों के विस्तृत वर्णन हैं जिनसे साधारण जनों की तो बात ही नहीं, ख़ूब सुशिक्षितों और असाधारण जनों की भी ज्ञानवृद्धि हो सकती है। कालेज की बड़ी बड़ी परीक्षायें "पास" किये हुए "ग्राजुएटों" में भी ऐसे कितने निकलेंगे जो अमेरिका के हार्वर्ड-विश्वविद्यालय की शिक्षा-प्रणाली से परिचित हों और यह जानते

हों कि वहाँ से संस्कृत-भाषा के कितने प्राचीन ग्रन्थ कितनी ख़ूबी से सम्पादित होकर निकल रहे हैं।

रही शिक्षा-प्राप्ति की बात। सो इस विषय में तो हम इस पुस्तक को अद्वितीय ही समझते हैं। इसे पढ़ कर भी जिस अभागे के हृदय में अपनी मातृभाषा और अपनी मातृभूमि के विषय में भक्ति की धारा न सही, स्रोत का भी, प्रवाह न बह उठा उसे जीवन्मृत ही समझना चाहिए।

गुप्त जी ने अपनी इस पर्य्यटन-पुस्तक में, जगह जगह पर, अपने जो हृद्गत उद्गार निकाले हैं वे सर्वथा अनमोल हैं। कहीं कहीं पर तो वे कलेजे को चीर कर बाहर निकल जाते हैं और सहृदय पाठक को अपनी दुर्गति, अकर्मण्यता और बेबसी पर रोना पड़ता है। हवाईद्वीप में बैठ कर वहाँ के होटल की किताब में, हिन्दी में, अपने भाव व्यक्त करनेवाले, पोर्ट-आर्थर के दर्शन करके भावभरी स्तुति के मिष अपना हृदय निकाल कर दिखाने वाले, निर्बलों और कर्तव्यपराङ्मुखों का उत्पीड़न देख कर ख़ून के आँसू बहाने वाले इस भारतीय भक्त के क्या एक भी उद्गार ऐसे हैं जिनसे कुछ न कुछ शिक्षा न मिलती हो? इसे आप अतिरञ्जना या अत्युक्ति न समझिए। यह आलोचना कुछ लम्बी तो ज़रूर हो जायगी, पर, हम, अपनी उक्ति की यथार्थता के प्रमाण में, इस पुस्तक से कुछ ऐसे अवतरण नीचे देने जाते हैं जो हमारे कथन की पुष्टि करेंगे। गुप्त जी के विचार इतने परिष्कृत हैं और सचाई के वे इतने क़ायल मालूम होते हैं कि विषय चाहे सामाजिक हो, चाहे धार्म्मिक, चाहे और कोई, वे अपनी सच्ची राय, सो भी बहुत स्पष्ट शब्दों में, देते ज़रा भी नहीं हिचके। आर्य्यसमाज के अन्तर्भुक्त होने पर भी वे पुराणों के दूध-दही के समुद्रों के नाम सार्थक समझते हैं। अतएव पुराणों का सर्वांश उनकी दृष्टि में

अफीमचियों या गपोड़शंखों की कल्पना की करतूत नहीं। इतने निर्भीक और इतने उदार सज्जन के हार्दिक उद्गारों की कुछ बानगी नीचे दी जाती है। देखिए, उससे कुछ शिक्षा मिलती है या नहीं।

भारतवासियों के लिए विदेशयात्रा कितनी ज़रूरी है, इस पर पर्य्यटक महाशय कहते हैं—

"जब से मैं बाहर आया हूँ तब से मुझे पद पद पर यह बात ज्ञात होती है कि भारत के विषय में संसार में नितान्त अन्धकार है। भारत क्या है, उसका इतिहास क्या है, उसके काव्य, मूर्तियाँ, चित्र क्या हैं, उसमें शिल्प-विज्ञान व कला कितनी है, उसमें रसिकता, साहस, वीरता, उद्दण्डता कितनी है, इसका परिचय संसार को कुछ भी नहीं है। जो कुछ है भी वह स्वार्थियों-द्वारा विकृत रूप में ही दिया गया है। यह देखते हुए इसकी बड़ी आवश्यकता है कि हमारे देशवासी सभी देशों में नाना प्रकार से भ्रमण करें व देश के हर एक पहलू पर प्रकाश डालें। हे नवीन भारत! यदि तुम्हें सभ्य जगत् की पङ्क्ति में बैठना है तो संसार की भिन्न भिन्न भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करो। उनमें क्या है, उसे अपने देश की भाषाओं में लिखकर अपने देश भाइयों को बताओ और तुम्हारे घर में जो सम्पत्ति है उसे संसार के बाज़ारों में परखने को भेजो। इसके बिना काम नहीं चलेगा।

"देश के बाहर निकलने से अपनी भी आँखें खुलती हैं और दूसरों की भी। पर अभी तो हम पीनक लेते हुए बनावटी धर्म्म के गड्ढे में पड़े निर्वाण खोज रहे हैं। संसार की चिन्ता किसको है? भला हो प्लेग और अकाल का कि ये हमें जगा रहे हैं। इसी का नाम ईश्वरी कोड़ा है। यदि इसे भी खाकर हम न जागें तो ईश्वर ही मालिक है।

"मैं चाहता हूँ कि भारत के नवयुवक भाई नौकरी को तिलाञ्जलि दें। × × × भिन्न भिन्न देशों में कोठियाँ खोल व्यापार बढ़ावें। इसी बहाने देश-देशान्तर को देखें भी। पहले भी हमारे यहाँ यही होता था। अब भी जीवित देशवाले यही करते हैं और यदि हमें भी जीवित रहने की इच्छा है तो यही करना होगा"। पृष्ठ १८०–८१

जापान पहुँचने पर गुप्त जी ने देखा कि वहाँ जापानी भाषा ही की तूती बोल रही है। जब तक आप इंगलेंड और अमेरिका में रहे तब तक मातृभाषा की महत्ता आपके ध्यान में नहीं आई। क्योंकि उन देशों की भाषा अँगरेज़ी है और आप भी अँगरेज़ी भाषा के धुक्कड़ या धुरन्धर पंडित हैं। पर जापान में विदेशी भाषा अँगरेज़ी का उतना ही आधिपत्य, जितना कि भारत में है उन्हें न दिखाई दिया। इस पर आप कहते हैं—

"यद्यपि यहाँ पर अँगरेज़ी जाननेवाले कर्मचारी हैं, पर वे इतनी अँगरेज़ी नहीं जानते कि उनसे भली भाँति बातचीत की जाय। सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से हमारे देश में शिक्षा विदेशी भाषा द्वारा होती है, इससे यदि ऐसा कहा जाय कि भारतीय पढ़े लिखे मनुष्य अपनी मातृ-भाषा की अपेक्षा अँगरेज़ी अधिक जानते हैं तो अत्युक्ति न होगी, क्योंकि बहुतेरे तो ऐसे भी हैं जिन्हें अपनी भाषा भी नहीं आती। मैं भी उसी श्रेणी का एक नराधम हूँ। इससे मुझे अब तक इंगलेंड और अमेरिका में इस बात का ध्यान भी नहीं आया था कि मेरी भाषा देशवासियों की भाषा से भिन्न है"। पृष्ठ १८६

यह कितनी अस्वाभाविक बात है कि हम लोग अपनी भाषा तो न जानें, पर ६००० मील दूरवर्ती टापू, इंगलैंड, की भाषा के

पारगामी पण्डित बन जायँ। इस कारण लज्जित होना तो दूर रहा, उलटा अपनी अँगरेज़ीदानी पर गर्व भी करें। गुप्त जी ने यह इतना बड़ा ग्रंथ हिन्दी में लिख डाला है। अतएव वे अपनी मातृभाषा अवश्य ही जानते हैं। इस कारण वे तो नराधम नहीं, नरदेव हैं। परन्तु हाँ, जो भारतवासी अपनी भाषा नहीं जानते और जो उससे द्वेष करते या उससे उदासीन रहते हैं वे नराधम भले ही न हों: मातृभाषा में कोरे रह जाने के कारण, आत्मशत्रु और देशद्रोही ज़रूर हैं।

जापानियों की स्वदेश-भक्ति पर गुप्त जी ने जो कुछ लिखा है यह बड़े मोल का है। उनकी उक्तियाँ कुछ लम्बी ज़रूर हैं; परन्तु उनकी महत्ता के लिहाज़ से हम उन सभी को नीचे देने का लोभ- संवरण नहीं कर सकते। जापान के विषय में गुप्त जी कहते हैं—

"बड़े बड़े पुस्तकालय छप्परों में हैं। बड़ी वैज्ञानिक उद्योग-शालाओं में भी खड़ाऊँ पहिन कर ही जापानी लोग अपना काम कर लेते हैं। बिजली की रोशनी भी उन्होंने अपने छप्पर से छाये हुए मकानों में ही कर ली है। ऊँची ऊँची शिक्षा भी यहाँ उन्हीं बाँस की जाफरी से घिरे छप्परों तले होती है, जहाँ पहिले होती थी। १२ वर्ष योरप-अमरीका में भ्रमण करके भी जो पण्डितगण यहाँ लौटे हैं वे भी घर तथा बाहर अपना 'किमानो' व 'गीता' ही पहनते हैं, घर में भी फ़र्श पर बैठते हैं, व सींक से भात-मछली का भोजन करते हैं तथा अपने इष्टमित्रों से पूर्व की भाँति ही मस्तक नवा कर मिलते हैं। हमारे देश की नाईं नहीं कि ए० बी० सी० पढ़ने के साथ ही गिटपिट शुरू हुई। तीसरी कक्षा पहुँचे, बस हैट-बूट धारण करने लगे और चुरुट मुँह में रख फक फक धूम्र फेंकते चलने लगे। विलायत में तीन वर्ष रह बैरिस्टरी करके लौटे,

बस पिता से "वेल टोटाराम हाऊ डू यू डू" करना प्रारम्भ किया। घर से तुलसी का चौरा खोद फेंका, तख़्त वग़ैरह निकाल दिये। तुलसी की जगह करोटन, फर्श की जगह टेबुल-कुर्सी, ब्राह्मण रसोइये की जगह बावरची, पवित्र निरामिष आहार के स्थान में चौप मटन प्रारम्भ हुआ। अच्छे सीधे सादे बाबू जी साहब बन बैठे। इसे भोजन पचाना नहीं, उलटी खाना कहते हैं। जापान देश-भक्त है। वहाँ के निवासियों को स्वदेश में प्रेम है, बाहरी उन्नति की वस्तुओं को अपनाकर वे उनसे सुख लूटना जानते हैं। भारत गुलाम है, इसे 'स्व' के नाम से ही घृणा है, दूसरों के किये हुए वमन में से दाना निकाल खाता है जिससे शरीर में विष फैल कर नाना प्रकार की व्याधियाँ होती हैं। यदि भारत को उन्नति करनी है तो उसे घमण्ड छोड़ जापान को गुरु बनाना होगा। जिस प्रकार यह देश-विदेश की वस्तुओं को लेते हुए भी अपनी चाल को नहीं छोड़ता, वही हमें भी करना होगा"। पृष्ठ ९९

कैसा अच्छा उपाय गुप्त जी ने बताया है। बातें बहुत कड़वी कह डाली हैं। पर कहें न तो क्या करें। बिना कहे रहा भी तो नहीं जाता। उनका तो जी जल रहा है। भारत की दुर्गति उनसे नहीं देखी जाती। इसी से उन्होंने हमारी अज्ञता, अविवेक और अदूरदर्शिता पर इतना आक्रोश किया है।

पर्य्यटक महाशय अपनी भाषा के इतने प्रेमी हैं और उसकी उन्नति के लिए इतने प्रयत्नशील हैं कि अनन्त धनराशि ख़र्च करके वे "आज" के सदृश सर्वोत्तम दैनिक पत्र हिन्दी में निकाल रहे हैं और अनेक उपादेय पुस्तकें अपने ज्ञान-मण्डल प्रेस से प्रकाशित कर रहे हैं। आपके हिन्दी प्रेम का यह हाल है कि चिट्ठी के लिफ़ाफ़े पर, पते के अन्त में, डाकख़ाने और ज़िले इत्यादि का

नाम तक अँगरेज़ी में नहीं लिखते। हवाई-द्वीप का ज्वालामुखी पर्वत देखने आप गये तो वहीं, पास ही, एक होटल में ठहरे। वहाँ से रवाना होते वक़ होटलवाले ने आपके सम्मुख एक किताब रख दी और कहा कि यहाँ ठहरने में आपको जो कुछ आराम या तकलीफ़ हुई हो उसका उल्लेख इस किताब में कर दीजिए। इस घटना के सम्बन्ध में आप लिखते हैं—

"मैंने कलम उठा अपनी गँवारी देशी भाषा व असभ्य देवनागरी अक्षरों में निम्नलिखित छोटा सा विचार* लिख दिया। हमारे साहब हिन्दू लोग हँसेंगे कि यह अजब उल्लू है कि हवाई-द्वीप में भी हिन्दी में लिखता है। भला इसे पढ़ेगा कौन? किन्तु उन्हें अलमोड़ा, बदरिकाश्रम इत्यादि या अन्य किसी जगह ही सही, योरप-अमेरिका-निवासियों को अंगरेज़ी, जर्मन, फरासीसी भाषाओं में लिखते देख हँसी नहीं आती, उलटे उनकी नक़ल कर वे स्वयं अंगरेज़ी में लिखने लग जाते हैं। इसी का नाम है पराधीनता की छाप"—पृष्ठ १५६

गुप्त जी, माफ़ कीजिए, यहाँ पर आपके शब्द-चित्र में कुछ कसर रह गई है। सरकार, यह वह पुण्यभूमि है जहाँ होटलों, स्कूलों, यतीमख़ानों आदि की परिदर्शन-पुस्तकों ही में यहाँ के पावन-चरित पुण्यात्मा अपना वक्तव्य अंगरेज़ी में नहीं प्रकट करते। यहाँ तो बाप बेटे को, चचा भतीजे को, भाई भाई तक को भी पत्र-द्वारा अपने विशद विचार अंगरेज़ी में व्यक्त करता है। ऐसा अस्वाभाविक दृश्य, इस भू-मण्डल में, अभागे भारत के सिवा किसी और देश में देखने को नहीं मिल सकता। यह अद्भुत दृश्य देवों और दानवों के भी देखने योग्य है। अतएव जो विशेषण

---

*इस विचार की नक़ल हमने नहीं दी।

आपने अपने लिए चुना है उसके अधिकारी आप नहीं; यही लोग हैं।

अमेरिका के संयुक्त-राष्ट्रों या देशों में बोस्टन नाम का नगर, ऐतिहासिक दृष्टि से, बड़े महत्त्व का है। इँगलेंड के आधिपत्य से छुटकारा पाने के लिए पहले पहल इसी नगर में स्वाधीनता की लहर उठी थी और यहीं से सारे देश में फैली थी। वहाँ पहुँचने पर, इस विषय में, पर्य्यटक महाशय के हृदय में जो विचार उठे उनकी बानगी देखिए—

"ग़ुलामी के पञ्जे में पड़े हुए देशों में स्वतन्त्रता की लड़ाई जब प्रारम्भ होती है तब तो वह प्रथम प्रथम थोड़े ही मनुष्यों के द्वारा हुआ करती है। किन्तु यदि स्वतन्त्रता की विजय हुई तो यही छोटा दल देशभक्तों के दल के नाम से इतिहास के पृष्ठों पर अङ्कित होता है और आनेवाली जातियाँ इन्हें सम्मान की दृष्टि से देखती हैं, इनका अनुसरण करती हैं और ये युवकों के हृदय-मन्दिर में स्थान पाते और पूजे जाते हैं। यदि ग़ुलामी का जुआ हटाने की चेष्टा करनेवाले वीरों की हार हुई तो वे ही "बाग़ी" पुकारे जाते हैं और भविष्य जाति ज़ालिमों के डर के मारे उनके नाम से डरती है। अपने को प्रतिष्ठित समझनेवाले लोग इन्हीं देश-भक्तों को दुष्ट, दुरात्मा, पापी कह कर पुकारते हैं और उनसे घृणा करते हैं। हा! काल की विचित्र गति है"। पृष्ठ ६३

बोस्टन नगर के पास ही हार्वर्ड नाम का एक विश्व-विद्यालय है। यह बड़ा नामी विश्वविद्यालय है। सी० आर० लैनमैन (Lanman) नाम के एक विद्वान् वहाँ अध्यापक हैं। वे संस्कृतज्ञ हैं और पाली-भाषा के भी ज्ञाता हैं। उनके निरीक्षण में वहाँ से संस्कृत और पाली आदि भाषाओं के अनेक अनमोल और अलभ्य या

दुर्लभ ग्रंथ, बड़ी योग्यता से सम्पादित होकर, निकल चुके हैं और अब तक निकलते जा रहे हैं। गुप्त जी अध्यापक महाशय से मिलने गये और मिल कर बहुत प्रसन्न हुए। वहाँ उनके पाठागार में उन्होंने संस्कृत की प्राचीन पुस्तकों का इतना अच्छा संग्रह देखा जितना कि भारत में शायद ही किसी विद्वान् के यहाँ हो। अध्यापक लैनमैन के पुस्तक-प्रकाशन-विषयक विशिष्ट व्यापार को देख कर गुप्त जी ने जो विचार व्यक्त किये हैं उनका कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

"आपके (अध्यापक महाशय के) परिश्रम से जो संस्कृत के ग्रन्थ यहाँ से निकल रहे हैं वे बड़ी योग्यता से सम्पादित होते हैं और बड़े ही उपयोगी हैं। किन्तु इस उत्तम कार्य को देख कर मेरे ऐसे अल्पबुद्धि के मनुष्य की भी आँखों से आँसू निकल पड़े और मुझे एक ठंढी आह खींचनी पड़ी। क्यों? इसी लिए कि जो काम हमारे देशी विद्वानों के करने का है उसे विदेशी विद्वान् कर रहे हैं और हम बैठे चुपचाप तमाशा देख रहे हैं। हा! हमारे प्रातःस्मरणीय विद्यावारिधि विद्वानों में इस ओर क्यों इतनी उदासीनता है, यह समझ में नहीं आता। मुझे रह रह कर यही ख़याल होता है कि हमारे विद्वान् जहाँ एक ओर अपने अपने विषय में अद्वितीय विद्वान् हैं वहाँ दूसरी ओर दासत्व ने, स्वतन्त्र विचार के अभाव ने, उन्हें उपयोगी कामों की ओर से इतना उदासीन बना दिया है जिसका ठिकाना नहीं। × × × × × ×

"मैं यह लिखे बिना इस प्रसङ्ग को नहीं छोड़ सकता कि अब समय आ गया है कि जहाँ एक ओर गुरुकुल के विद्वान् निरर्थक परिश्रम को छोड़ वास्तविक ज्ञानान्वेषण में लग जावें वहाँ दूसरी ओर काशी की विद्वत्परिषद् से भी मेरी यह प्रार्थना है कि वह मतमतान्तर के झगड़ों को छोड़ केवल खोज-सम्बन्धी कार्य

में लगे। यदि ऐसा करना वह उचित न समझे तो कम से कम इतना तो अवश्य करे कि एक शाखा अपनी परिषद् की ऐसी बना दे जो केवल—ज्ञानान्वेषण (रिसर्च) के काम में लग जावे"। पृष्ठ ६४, ६५

जिस समय गुप्त जी का जहाज़ लाल-सागर से जा रहा था उस समय उनके जी में यह आया कि लाल-सागर, पीत-सागर, श्याम-सागर और श्वेत-सागर नाम क्यों पड़े। पानी तो सभी का एक ही सा है। इस पर आपने अनुमान किया और शायद बहुत ठीक अनुमान किया कि मिस्र देश के छोर पर जो पर्वत हैं उनका रङ्ग लालिमा लिये हुए है। इसीसे इस समुद्र का नाम लाल या लोहित-सागर पड़ा होगा। इसी तरह चीन के पीताभ-निवासियों के वर्ण के अनुसार पीत-सागर, उत्तरी ध्रुव के आस पास के प्रदेशों में बर्फ़ की अधिकता के कारण श्वेत-सागर और एशिया माइनर तथा रूस की तत्तत्प्रान्तवर्तिनी भूमि का रङ्ग श्यामलता-युक्त होने के कारण श्याम-सागर नाम पड़े होंगे। इस प्रकार के विचार आपके हृदय में उत्पन्न होने के अनन्तर आपको पुराणों के दूध, दही, मधु आदि के समुद्रों का स्मरण हो आया। इस पर आप कहते हैं—

"ऐसी अवस्था में हमारे पुराणों में आये हुए क्षीरसागर, मधुसागर, दधिसागर इत्यादि भी क्यों न इसी प्रकार के नाम समझे जायँ। × × ×

"आज कल के नवशिक्षितों की शिक्षा इतनी बाह्य और ओछी होती है कि वे किसी गहराई में न जाकर ऊपर से ही अपनी वस्तुओं का तिरस्कार करने लगते हैं। यह शिक्षा-प्रणाली का दोष है, जिससे हमारे शिक्षित समाज को हिन्दू-सभ्यता, हिन्दू-साहित्य, हिन्दू-विज्ञान तथा हर प्रकार के हिन्दू-सिद्धान्तों की कितनी अनभिज्ञता है, यह सूचित होता है। किसी पर्य्यटक ने उत्तरीय

भू-मण्डल में किसी सागर में बहुत से हिम-खण्डों को बहते देख यदि अलङ्कारवत् उसका नाम दधि-समुद्र रख दिया हो तो क्या आश्चर्य ?" पृष्ठ ९, १०।

इसी तरह आपने मधु-सागर और क्षीरसागर आदि की भी सार्थकता का अनुमान करके, बेचारे बहु-विनिन्दित पुराणों को, किसी हद तक, दाद दी है।

समाज-सुधार के विषय में गुप्तजी ने, अपनी पुस्तक के पृष्ठ ८१ और ८२ में, जो विचार प्रकट किये हैं वे सुधार के पक्षपातियों के विशेष मनन करने योग्य हैं। आपकी राय है कि आँखें बन्द करके समाज-सुधार की चेष्टा न करनी चाहिए। विवेक से काम लेना चाहिए। मनमाना ऊधम मचाने (License) का नाम सुधार नहीं है। समाज-सुधारक कान्फ़रेंसों के—

"प्रधान वक्ताओं में, जो टेबुलतोड़ व बेंच-फोड़ वक्ता कहे जाते हैं, ऐसे लोगों की ही संख्या अधिक मिलेगी जिनका निज का चरित्र अनुकरणीय नहीं पाया जायगा"। × × × "रत्नों में लगी हुई गर्द के झाड़ने की आवश्यकता है, न कि उनके फेंकने की × × × × सुधारकों को चाहिए कि समाज की स्थिति में उलट-फेर करने के पूर्व भली भाँति विचार के काम करें। केवल कुछ प्रचलित शब्दों के आधार पर ही न चल दें। जैसे—'हिन्दुओं के चौके ने चौका लगा दिया',—'सङ्ग खाने से प्रेम बढ़ता है',—'नौ कनौजिए तेरह चूल्हे',—'अनमिल विवाह से प्रेम नहीं बढ़ता',—'छुवाछूत बेहूदगी है', इत्यादि। इन उपर्युक्त वाक्यों को ज़रा ग़ौर से देखने से ज्ञात होगा कि ये केवल बेहूदगियों पर ही नहीं बने हैं। इनकी तह में समाज-निर्म्माण-शास्त्र तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी गहरे नियमों की जड़ पड़ी है। यद्यपि आधुनिक समय में इनका अत्यन्त

दुरुपयोग हुआ है और हो रहा है, फिर भी इससे वे नितान्त त्याज्य नहीं हो गये"। पृष्ठ ८२

छुवाछूत से बीमारियाँ फैलने और बच्चों के मुख से रुग्ण माँ-बाप के मुख का स्पर्श होने से उपदंश आदि रोगों की उत्पत्ति होते देख गुप्त जी को ये विचार सूझे हैं। इसी से उन्होंने समाज-सुधारकों को सावधान किया है।

अमेरिका में नियागरा नाम का जो विश्वविदित जल-प्रपात है उसे देख कर पर्य्यटक महाशय के हृदय में बाइबिल की सभ्यता के सम्बन्ध में तीव्र रोष का आविर्भाव हो आया। आप कहते हैं—

"नियागरा नाम ईरोकोइस भाषा से लिया गया है। यह भाषा इसी नाम की पुरानी जाति की थी जिसे पुराने समय में यूरोप-निवासी लुटेरों ने नष्टप्राय कर डाला। बाइबिल की सभ्यता अजीब सभ्यता है। इसको माननेवाली यूरोप की सफ़ेद जातियाँ यदि मौका पावें तो स्वयं महात्मा ईसामसीह को भी सूली पर चढ़ा उनके लत्ते-पत्ते नोच खसोट लें। मेरा यह विश्वास होता जाता है कि योरोपवालों की ईसाइयत केवल भेड़ियों के लिए बकरी की खाल का ही काम देती है। ये लोग अपने को ईसाई पुकार कर पवित्र ईसामसीह के नाम को कलङ्कित करते हैं। इन पाखण्डी ईसाइयों की करतूतों को यदि जानना हो तो 'कंकेस्ट आव पेरू एंड मेक्सिको' (Conquest of Peru and Mexico) नाम की पुस्तकों को पढ़ना चाहिए"। पृष्ठ ८५

पाठक ज़रा ही और धैर्य्य धरें। बस दो ही तीन अवतरण और देकर इस लेख का समापन कर दिया जायगा। गुप्त जी सैर करते हुए अमेरिका के अलबनी नामक नगर में पहुँचे। वहाँ बड़ी मुश्किलों में होटलवाले ने उन्हें अपने होटल में उतरने दिया।

मुश्किल इस कारण दरपेश आई कि उनका चमड़ा गोरा न था। वहाँ उन पर जो कुछ बीती उसे और उनके हृदय से जो उद्गार अपने देश-भाइयों के विषय में निकले उन्हें भी आप उन्हीं के मुख से सुन लीजिए—

"भोजनागार में गये तो जिस प्रकार भारत में चमारों से व्यवहार होता है वैसा ही मुझसे हुआ। एक कोने में मुझे जगह मिली जिसमें मैं किसी को छू न लूँ। पहले तो बड़ा क्रोध आया कि उठ कर चला जाऊँ। किन्तु फिर सोचा कि जब तक भारतवर्ष में एक भी मनुष्य के साथ ऐसा ही बर्ताव होता रहेगा तब तक मुझे क्या अधिकार है कि दूसरों से सर उठा कर बोलूँ। जैसा हम बोते हैं वैसा ही फल पावेंगे। हमने ऐसा न किया होता तो क्यों इस दशा को प्राप्त होते। यह हमारे ही पापों का फल है कि हम दास हैं। हम आज संसार में स्वतंत्र नहीं हैं। हमारी पीठ पर हाथ रखनेवाला कोई नहीं है। हमारे दुखों का सुननेवाला कोई नहीं है। हाँ, परमात्मा है। किन्तु उसे किस मुख से पुकारें। हमने भी तो दूसरों को दास-वृत्ति में रक्खा है। अब भी दासों से बढ़ कर घृणित व्यवहार अपने ही भाइयों से करते हैं।" पृष्ठ ८७

अमेरिका के विषय में गुप्त जी कहते हैं—

"इस देश में यद्यपि नाममात्र के लिए दासत्व का अन्त हो गया है किन्तु रङ्गीन हबशी जाति के साथ यहाँ बड़ा अन्याय होता है। भारतवर्ष में तो तिल्ली फाड़नेवाले गोरों को १०) २०) रुपया जुर्माना भी हो जाता है, यहाँ इतना भी नहीं। अभी उस दिन पढ़ा था कि एक दक्षिणी प्रान्त में किसी काले मनुष्य ने एक सफ़ेद मनुष्य की गाय चुरा ली। बस फिर क्या था, सफ़ेद भूतों ने बेचारे काले मनुष्य को पकड़ लिया व उसकी स्त्री व बच्चों को भी एक

पेड़ में बाँध तेल छिड़क आग लगा दी। चारों बेचारे तड़प तड़प कर मर गये और ये नर-पिशाच खड़े हँसते रहे। मुझे आश्चर्य मालूम होता है कि अमरीका के पादरी क्या मुँह लेकर हमें सभ्यता सिखाने आते हैं। कदाचित् अमरीका में इन भेड़ों की बात सफ़ेद भेड़िये नहीं सुनते होंगे। इसी से ये हमें उल्लू बनाने आते हैं। अमरीका को सभ्य समझना नितान्त भूल है। यह देश बिलकुल जङ्गली पशुओं से भरा है। किन्तु पुंश्चली दुष्टा लक्ष्मी की इन नरदेहधारी पशुओं पर कृपा है। बस इसी के भरोसे ये इतना कूदते हैं।" पृष्ठ ८८

अब आप रूस-जापान के युद्ध का स्मरण कीजिए। अपने अनन्त वीरों के उष्ण रुधिर की नदियाँ बहा कर जापान ने पोर्ट-आर्थर नामक अत्यन्त दुर्भेद्य दुर्ग को रूसियों से छीना था। उसके छीने जाने पर रूस के पैर सभी रणाङ्गणों से उखड़ते ही गये और फिर नहीं ठहरे। अन्त को जापान ने उसे पूर्णतया परास्त करके एशिया का मुख उज्ज्वल किया।

इस पोर्ट-आर्थर को एक तीर्थ, एक क्षेत्र, एक धाम समझ कर गुप्त जी ने उसके दर्शनों के लिए वहाँ की यात्रा की। वहाँ पहुँच कर उन्होंने उसकी प्रान्तवर्तिनी समग्र भूमि को परम पावन मान कर उसके दर्शनों से अपने को कृतार्थ जाना। फिर आपने वहाँ की रज को बड़ी श्रद्धा के साथ अपने मस्तक पर लगाया। मथुरा में श्रीकृष्ण जी ने जिस तरह कंस को पछाड़ कर भूमि का भार हलका किया था उसी तरह, गुप्त जी के कथनानुसार, रूस-रूपी कंस को श्रीकृष्ण के सखा-सदृश जापानियों ने पछाड़ कर योरप और अमेरिका के अत्याचारों से एशियाखण्ड का पिण्ड बहुत कुछ छुटा दिया। पोर्ट-आर्थर को गुप्त जी एशिया का वाटरलू और मंचूरिया का हलदीघाट समझते हैं। उसकी भूरि

भूरि प्रशंसा और स्तुति करने के अनन्तर आपने उसे इस प्रकार प्रणाम किया है—

"हे नवयुग का प्रचार करने वाले ! हे एशिया में स्वतन्त्रता की घोषणा करने वाले ! हे योर-अमरीका को बाढ़ को रुद्ध करनेवाले ! हे प्रातः स्वाधीन समीर बहा कर एशियावासियों के हृदय-कमल को खिलाने वाले ! हे 'एशिया फार एशियाटिक्स' (एशिया एशिया-निवासियों के लिए है) की घोषणा करने वाले पोर्ट-आर्थर ! तुम्हें बारम्बार प्रणाम है। हे योर-अमरीका के ताप से सूखती हुई एशिया की खेती पर आनन्दवर्षा करनेवाले ! हे श्वेतांगों के तुषार से ठिठुरे हुए सवर्णों के शरीर को वसन्तागमन का सन्देशा पहुँचा कर गर्मी पहुँचाने वाले ! तुमको प्रणाम है। हे योर-अमरीका की रजनी से आच्छादित एशिया-भूखण्ड को प्रभात-भानु से लोहित-वर्ण करनेवाले ! तुमको प्रणाम है। हे एशिया को मोक्ष देने वाले लूसन पहाड़ ! आधुनिक समय के पुण्यधाम ! भविष्य के बैतुलखुदा व स्वर्गद्वार ! तुमको कोटि कोटि प्रणाम है। वन्दे पोर्टआर्थरम् ! वन्दे मातरम्।" पृष्ठ ३३८

आपकी पुस्तक से इतने लम्बे लम्बे वाक्य-समूहों की नक़ल करनेवाला यह नक्क़ाल मसिजीवी भी, ऐसी उत्तम पुस्तक लिख कर प्रकाशित करने के लिए, गुप्त जी को सादर प्रणाम करता है और आप ही की तरह प्रमोद-पूर्ण उच्च स्वर से कहता है—वन्दे मातरम्।

ऊपर दिये गये अवतरणों से पाठक सहज ही इस बात का अनुमान कर सकेंगे कि यह पुस्तक कितने महत्व की है और इसके पाठ से कहाँ तक शिक्षा की प्राप्ति और कहाँ तक ज्ञान की

वृद्धि हो सकती है। मनोरञ्जन तो इसके प्रत्येक पृष्ठ से हो सकता है।

इस अतीव उपादेय पुस्तक की एक एक कापी प्रत्येक पुस्तकालय में रक्खी जानी चाहिए। जो मोल ले सकते हैं उन्हें भी इसे मँगा कर पढ़ना और अपने संग्रह में रखना चाहिए। जो इसे अभी नहीं मँगा सकते, तथापि जो अपनी मातृ-भाषा के प्रेमी और अपनी मातृ-भूमि के भक्त हैं, उन्हें भी हर महीने थोड़ा थोड़ा अर्थ-संग्रह करके, वर्ष छः महीने बाद, इसकी एक कापी ज़रूर प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिए।

[अक्टोबर १९२४]

वैदिक कोष

[७]

वेदों की भाषा बहुत प्राचीन होने के कारण अत्यन्त जटिल और दुरूह है। उसका व्याकरण ही जुदा है। जिन्होंने उसे अच्छी तरह पढ़ा है और जी लगाकर वेदों का अध्ययन और मनन किया है वही, बिना भाष्य की सहायता के, वैदिक मन्त्रों और गाथाओं का अर्थ समझने और समझाने में समर्थ हो सकते हैं। वैदिक शब्दों और पदों का यथार्थ अर्थ जानने में बड़े बड़े धुरन्धर पण्डितों तक की बुद्धि चक्कर खाने लगती है। इस कठिनाई के होते हुए भी वेदों का मतलब समझने की बड़ी आवश्यकता है। इस आवश्यकता को पूर्ण करने का आज तक कोई उत्तम साधन नहीं। कोई पुस्तक आज तक ऐसी नहीं बनी जिसकी सहायता से थोड़ा पढ़े लिखे लोग भी वैदिक शब्दों का अर्थ जान सकें। बड़े बड़े पुरातत्ववेत्ताओं और भाषा-शास्त्र-विशारदों में बहुधा विवाद हुआ करता है कि अमुक वैदिक शब्द का यह नहीं, यह अर्थ है; अमुक शब्द वेदों में इतनी दफ़े अमुक अर्थ में आया है; अमुक शब्द अमुक भाष्यकार या निघण्टुकार ने अमुक अर्थ का बोधक माना है। इस तरह के विवादों में बहुत समय नष्ट जाता है और बहुत परिश्रम भी पड़ता है। इससे बचने का एकमात्र उपाय यह है कि वैदिक शब्दों का एक वृहत्कोश तैयार किया जाय और उसमें सारे वैदिक शब्दों और पदों का सोदाहरण अर्थ लिख कर भिन्न भिन्न भाष्यकारों के किये हुए अर्थों का भी निदर्शन किया जाय। इससे वेदाध्ययन में बहुत सहायता हो सकती है और अनेक दुरधिगम्य बातों का बोध भी हो सकता है।

खुशी की बात है, श्री स्वामी विश्वेश्वरानन्द और नित्यानन्द जी ने इस आयास-साध्य और विद्वत्ता-सापेक्ष काम को हाथ में लिया है। इस कार्य के महत्व को अच्छी तरह समझ कर महाराजा गायकवाड़ ने पूर्वोक्त स्वामिद्वय का सहायक होना स्वीकार किया है। कोश का काम आरम्भ हो गया है। इस कोश के निर्म्माण में नीचे लिखी हुई प्रणाली से काम लिया जायगा—

(१) वेदरूपी समुद्र को मथ कर आख्यात, नाम, उपसर्ग, निपात आदि सारे शब्द-रूपी रत्न, अकारादि क्रम से, एकत्र किये जायँगे। साथ ही उनकी व्याकरण-सम्मत उपपत्ति भी दी जायगी।

(२) वैदिक व्याकरण के अनुसार प्रत्येक शब्द का अर्थ सरल संस्कृत में देकर यथासम्भव वैदिक वाक्यावतरण द्वारा उसका स्पष्टीकरण भी किया जायगा।

(३) भारतवर्ष, योरप, अमेरिका और अन्यान्य देशों के विद्वानों ने वैदिक शब्दों के जो जो अर्थ किये हैं उन सब का भी उल्लेख रहेगा।

(४) भिन्न भिन्न धर्मावलम्बियों और भिन्न भिन्न सम्प्रदाय-वालों ने जो अर्थ किये हैं उन अर्थों का भी निदर्शन होगा।

(५) भिन्न भिन्न अर्थों की योग्यता अथवा अयोग्यता का तारतम्य दिखला कर जिस अर्थ की पोषकता वैदिक निघण्टु, उपनिषद् और ब्राह्मण आदि ग्रन्थों से होती होगी वही अर्थ ठीक समझा जायगा।

(६) इसके सिवा धार्म्मिक, सामाजिक, तथा भौतिक दृष्टि से शब्दों का जो अर्थ हो सकता होगा उसका भी उल्लेख किया जायगा।

मतलब यह कि कोश को सब प्रकार उपयोगी और ग्राह्य बनाने में कोई बात उठा न रक्खी जायगी। यह बहुत बड़ा काम है; बड़े पुण्य का काम है; बड़े परिश्रम, अध्यवसाय और विद्वत्व का काम है। पूर्वोल्लिखित स्वामियुगल को इस सदनुष्ठान के लिए धन्यवाद—"शतशोऽथ सहस्रशः"।

इस वैदिक कोश की अभी सिर्फ अनुक्रमणिका प्रकाशित हुई है। उसमें चारों वेदों के पदों की—सविभक्तिक शब्दों की—अकारक्रम से सूची दी गई है। प्रत्येक वेद के पदों की सूची अलग अलग पुस्तकाकार छपी है। कुल पुस्तक चार जिल्दों में है। पृष्ठ-संख्या सब की कोई एक हज़ार है। पुस्तक मोटे काग़ज़ पर छपी है। छपाई बम्बई के निर्णय-सागर प्रेस की है और बहुत अच्छी है। पुस्तक बड़े साँचे की है। प्रत्येक पृष्ठ में तीन तीन कालम हैं।

इस अनुक्रमणिका में आपको वेदों के सारे शब्द मिलेंगे। जो शब्द आप चाहें निकाल लीजिए। परन्तु इस सूची के प्रकाशन का केवल यही उद्देश न समझिए। शब्दों के क्रम के सिवा एक और बहुत बड़ी बात इसके निर्म्माताओं ने की है। उन्होंने प्रत्येक शब्द के आगे मण्डल, अध्याय, सूक्त, प्रपाठक आदि के और मन्त्रनिदर्शक अङ्क देकर यह भी बतलाया है कि अमुक शब्द कहाँ कहाँ पर प्रयुक्त हुआ है। उदाहरण के लिए "देवाः" शब्द को लीजिए। यह शब्द ऋग्वेद में कोई सौ जगह आया है। आपको इन सारी जगहों का हवाला इस शब्द के आगे मिलेगा। आप उन उन स्थलों को देखकर जान लीजिए कि उसका वहाँ पर क्या अर्थ है। अथवा किस भाष्यकार ने किस स्थल पर उसे किस अर्थ का द्योतक माना है। यह बड़े महत्व की बात है।

इससे वैदिक पण्डितों को बेहद लाभ हो सकता है। वे लोग अब तक महीनों मिहनत करके यह जानने के लिए वेदों के पृष्ठ उलटा करते थे कि अमुक शब्द अमुक वेद में कितनी दफे आया है और किस किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। उनकी वह मिहनत अब सर्वथा बच गई समझिए। हाँ, एक बात लिखना हम भूल गये। वह यह कि प्रसिद्ध संस्कृत-विद्वान् मैक्समूलर की बनाई वैदिक शब्दों की एक सूची बहुत पहले से विद्यमान है। उसे इस वैदिक पद-सूची के निर्माताओं ने शायद नहीं देखा। क्योंकि देखते तो उसका उल्लेख वे अपनी भूमिका में अवश्य करते।

इतनी उपयोगी और इतने महत्व की इस सम्पूर्ण पुस्तक का मूल्य सिर्फ १०) रुपये रक्खा गया है। पुस्तक बम्बई के गिरगाँव-आर्य्य-समाज से मिल सकती है। आशा है, विद्याव्यसनी और अर्थ-समर्थ पाठक इसे मँगाकर ज़रूर लाभ उठावेंगे और एतद्द्वारा इस अनुपम वैदिक कोष के भावी खण्डों के प्रकाशन में सहायक होंगे।

स्वामी विश्वेश्वरानन्द और नित्यानन्द जी से हमारा एक उपालम्भ है। उन्होंने इस अनुक्रमणिका का जो विज्ञापन अँगरेज़ी और हिन्दी में छपाकर प्रकाशित किया है उसके हिन्दीवाले भाग में आप लिखते हैं—

"किन्तु किस किस शब्द का क्या क्या अर्थ है और सायण, महीधर, उव्वट और श्रीस्वामी दयानन्द जी आदि भाष्यकारों ने इन शब्दों के क्या क्या अर्थ किये हैं यह पता भी इन शब्दों के भाष्य द्वारा उसी समय लग जाता है"।

इसमें उन्होंने स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के नाम के पहले तो "श्री" और "स्वामी" ये दो आदरार्थक शब्द दिये हैं। पर अन्य

प्राचीन भाष्यकारों के नाम के पहले ऐसा नहीं किया। यद्यपि स्वामियुग्म के ऐसा न करने से भी उन भाष्यकारों का गौरव किसी तरह कम नहीं हो सकता; तथापि, हमारी क्षुद्र बुद्धि में, विद्वानों के द्वारा इस तरह के भेद-भाव का होना खटकता है। इससे एक प्रकार का पक्षपात सूचित होता है, क्योंकि आप आर्य्य-समाज के मेम्बर हैं। यदि स्वामी जी "श्री" के अधिकारी समझे गये थे तो सायण आदि ने ही क्या अपराध किया था? उनके भाष्यों से तो स्वयं स्वामी दयानन्द सरस्वती जी को भी बहुत नहीं तो थोड़ी सहायता ज़रूर ही मिली होगी। सम्भव है, इस त्रुटि का कारण असावधानता हो, जान बूझ कर न की गई हो। आशा है, भिन्न भिन्न भाष्यकारों के किये हुए अर्थ का तारतम्य दिखलाने और वैदिक शब्दों का यथार्थ अर्थ ढूँढ़ निकालने में इस तरह का कोई पक्षपात न किया जायगा।

[मई १९०९]

विचार-विमर्श

[८]

एक सज्जन ने अँगरेज़ी की एक पुस्तक हमारे देखने के लिए भेजने की कृपा की है। पुस्तक का नाम है—The Indian Literary Year Book and Authors, who is who, इस पुस्तक का सम्बन्ध १९१५ ईसवी से है। भारतीय लेखकों, समाचारपत्रों, सामयिक पुस्तकों, प्रेसों और साहित्य-सम्बन्धिनी सभाओं आदि का उल्लेख इसमें है। अन्त में प्रेस, समाचारपत्र और कापी-राइट से सम्बन्ध रखनेवाले ऐक्टों और नियमों आदि की नक़लें भी हैं। यह वार्षिक पुस्तक है। पर हमें इसे देखने का सौभाग्य आज ही प्राप्त हुआ। इस वर्ष के ६ महीने बीत गये। मालूम नहीं १९१६ की "Year Book" निकली है या नहीं।

इस पुस्तक का सम्पादन प्रोफ़ेसर नलिनविहारी मित्र, एम० ए०, नाम के किसी महाशय ने किया है और प्रकाशन इलाहाबाद के पाणिनि-आफ़िस ने। पुस्तक अँगरेज़ी में है। आकार मध्यवर्ती है। पृष्ठ-संख्या २३ + १९८ है। पर मूल्य दो रुपये हैं।

इसके आरम्भ में सम्पादक महाशय का लिखा हुआ एक उपक्रम है। उसके एक दो नहीं, सात सफ़हों में बँगला भाषा की महत्ता और उन्नति आद का वर्णन है। उसमें एक जगह लिखा है—"It is an admitted fact that the rank of a classical language can now be justly claimed for Bengali." यह सब ठीक। बँगला ने बड़ी उन्नति की है। अनेक विषयों की अच्छी अच्छी पुस्तकें उसमें हैं। उसके एक लेखक को "नोबल प्राइज़" भी मिला है। तथापि बँगला को जो

प्रशंसा इसमें की गई है उसमें यदि किसी को कुछ अत्युक्ति मालूम हो तो भी प्रशंसक महाशय क्षमा के पात्र हैं। क्योंकि वे बँगाली हैं और बँगाली यदि अपनी भाषा, बँगला, की प्रसंशा उचित से अधिक कर जायँ तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। अपनी चीज़ सभी को अच्छी लगती है।

आश्चर्य हमें एक और बात देख कर हुआ। यह पुस्तक "Indian Literary Year Book" है। कुछ Bengali Literary Year Book—तो है नहीं। इस दशा में नाचीज़ हिन्दी की विशेष ख़बर न ली जाती तो हर्ज की बात न थी। मराठी, गुजराती और तामील आदि भाषाओं पर कुछ पते की बातें लिखना था। पर नहीं लिखा। इससे सूचित हुआ कि सम्पादक को अपने घर के सिवा बाहर की बहुत कम ख़बर है। अतएव अन्य भाषाओं के सम्बन्ध में उनकी कही हुई बातें आँखें मूँद कर मानने योग्य नहीं।

इस पुस्तक में ऐसी अनेक बातें हैं जिन पर आक्षेप किया जा सकता है। पर हमें पूरी पुस्तक की समालोचना करना नहीं। हमें तो हिन्दी के विषय में कुछ निवेदन करना है।

सम्पादक का कथन है कि हिन्दी में बँगला की ढेरों क्या अनन्त पुस्तकों का अनुवाद हो गया है—"The number of Bengali works translated into Hindi is simply enormous." आपके इस कथन में अत्युक्ति की विशेषता है। बँगला का महत्व दिखाने ही के लिए शायद आपने ऐसा लिखा है। हमारी प्रार्थना है कि अभी कुछ ही समय से बँगला-पुस्तकों का अनुवाद हिन्दी में अधिकता से होने लगा है। सो भी विशेष करके उपन्यासों का। और विषयों की बहुत ही कम पुस्तकें

हिन्दी में रूपान्तरित हुई हैं। दस पन्द्रह वर्ष पूर्व तो साल में शायद ही दस पाँच पुस्तकें बँगला से हिन्दी में लिखी जाती रही हों। इस दशा में अनुवादों की संख्या के विषय में सम्पादक महाशय का "simply enormous" (बेइन्तिहा, असंख्य) कहना या तो उनकी अनभिज्ञता का सूचक है या बँगला को जान बूझ कर अनुचित महत्ता देने का बोधक।

हिन्दी के विषय में आपका एक आक्षेप यह भी है—"Hindi literature may be said to be still in an unsettled condition. Note, for instance, the fact that the same words are spelt by different writers in different ways."

आपके इस कथन में बहुत ही थोड़ी सत्यता है। दो लेखकों को छोड़ कर और कोई ऐसा नहीं करता। जो दो सज्जन ऐसा करते हैं उनकी इस असंयमशीलता की ख़बर कितने ही लेखकों ने ली है। यदि किसी लेखक ने किसी शब्द को भ्रम या भूल से और तरह लिख दिया तो इसमें भाषा का क्या दोष? क्या बँगला-लेखकों से ऐसी भूलें नहीं होतीं? सम्पादक महाशय यदि कृपा कर के बँगला की दो चार मासिक पुस्तकों को ध्यान से पढ़ेंगे तो उन्हें उनमें भी इस्ले की ग़लतियाँ मिलेंगी। इस्ले ही की नहीं, एक आध मासिक पुस्तक की तो भाषा पर भी कितने ही दोष-दर्शक लेख बँगला-पत्रों में निकल चुके हैं। तो क्या इससे बँगला-भाषा की शैली अनिश्चित हो गई? अँगरेज़ी को तो शायद सम्पादक महोदय बँगला से कम महत्व की भाषा न समझते होंगे। फिर क्यों उसके लेखक Favor और Favour तथा Woollen और Woolen दोनों लिखते हैं? और क्यों अमेरिकावाले व्यर्थ वर्णों को शब्दों से निकालते जा रहे हैं? यह तो भाषा की सजीवता

का लक्षण है। उन्नतिशील भाषाओं में इस प्रकार के परिवर्तन होते ही रहते हैं। किसी भाषा की योग्यता को कम करने के इरादे से ऐसे ऐसे अकिञ्चित्कर आक्षेप करना बहुत बड़ी अनुदारता है।

१९०३ ईसवी की सरस्वती के हास्यचित्र का उल्लेख कर के हिन्दी की हीनता दिखाने की चेष्टा करना सम्पादक जी की न्याय-शीलता का अच्छा नमूना है। उन्हें जानना चाहिए कि जिस उद्देश से वे चित्र प्रकाशित किये गये थे वह सिद्ध होगया है। गत दस बारह वर्षों में हिन्दी ने जितनी उन्नति की है उतनी उसने उसके पहले पचास वर्षों में भी न की थी। यदि आप इस साल की सरस्वती के दो चार भी अङ्क उठा कर देखने की कृपा करेंगे तो आपको विदित हो जायगा कि अब अनेक सुशिक्षित जन और अनेक एम० ए०, बी० ए० हिन्दी पर अनुरक्त हैं। भूले भटकों को सुमार्ग पर लाने ही के लिए विशेष करके हास्य-चित्र प्रकाशित किये जाते हैं। और बातों का कुछ भी ख़याल न करके, केवल ऐसे चित्रों ही के आधार पर, किसी भाषा या किसी जाति के दोष दिखाना कहाँ तक न्याय है, यह सम्पादक महाशय स्वयं ही जानते होंगे।

बँगला को आप चाहे हज़ार वर्ष की पुरानी बतावें, चाहे दो हज़ार वर्ष की, किसी की प्राचीनता ही से उसके गुण-गौरव की वृद्धि नहीं हो सकती। यह बताइए कि हज़ार वर्ष के पुराने ग्रन्थ बँगला में कितने हैं। हैं भी कोई? हिन्दी में तो इस समय भी सात आठ सौ वर्ष के पुराने ग्रन्थ प्राप्य हैं। बँगला की उन्नति अभी कल से हुई है। पचास वर्ष पहले बँगला की क्या दशा थी, इस पर विचार कीजिए, तब हिन्दी की हीनता मापिए। उन्नति एक दिन में नहीं हो जाती। उसके लिए कुछ समय दरकार होता है।

जिस क्रम से हिन्दी का साहित्य समुन्नति लाभ कर रहा है वह क्रम यदि जारी रहा—और न जारी रहने का कोई कारण नहीं देख पड़ता—तो आप देखेंगे कि हिन्दी भी कुछ कालोपरान्त बँगला के बराबर नहीं तो उससे गज़ दो गज़ के फ़ासले पर बैठने योग्य ज़रूर हो जायगी। इस पुस्तक के सम्पादक ने हम पर और सरस्वती पर एक बहुत बड़ा अन्याय किया है। कौन भाषा इस देश में सार्वदेशिक या राष्ट्र-भाषा हो सकती है, इस पर अपने विचार प्रकट करते समय, हिन्दी के विषय में आपने लिखा है—

"But as was pertinently observed by the Editor of the Saraswati, some ten years ago, if the richest languages of India—Bengali, Marathi and Gujarati, cannot claim to be the universal language of India what valve is there in the pretensions of a language which is despised and neglected by the educated among the Hindi-speaking people!"

हम पर ऐसा गुरुतर आरोप करते समय सम्पादक को चाहिए था कि हमारा कोई वाक्य उद्धृत करके दिखाते। यदि वे हमारे किसी लेख से अवतरण दे कर यह सिद्ध करते कि हमने हिन्दी को राष्ट्र-भाषा होने योग्य इस कारण नहीं समझा कि उसका साहित्य बँगला, मराठी और गुजराती के सदृश समृद्ध नहीं, और जिन शिक्षित जनों की वह मातृ-भाषा है वही उससे घृणा करते हैं, तो हमें अपनी भूल तो मालूम हो जाती। पर आपने ऐसा करने की ज़रूरत नहीं समझी।

जहाँ तक हम जानते हैं, हमने कभी ऐसा नहीं कहा और कहा भी होगा तो किसी ऐसे प्रसङ्ग में कहा होगा जिसके विचार

से हमारी इस उक्ति का यह अर्थ न हो सकता होगा। जो मनुष्य साल में दो चार नहीं, दस पाँच बार हिन्दी के विषय में यह लिखता हो कि सार्वदेशिक भाषा होने की योग्यता केवल इस भाषा में है वह भला इसके विरुद्ध सम्मति कैसे दे सकेगा?

सम्पादक महोदय से हमारी प्रार्थना है कि साहित्य का श्री-सम्पन्न होना ही राष्ट्र-भाषा होने की योग्यता का परिचायक नहीं। जर्मन और अंगरेज़ी भाषायें क्या फ्रेंच भाषा के बराबर भी श्री-सम्पन्न नहीं? फिर क्यों सारे योरप में फ्रेंच ही की तूती बोल रही है? मान लिया कि बँगला आज कल की अन्य भारतीय भाषाओं में सब से अधिक साहित्य-शालिनी है। पर उसे सीखने और बोलने की कठिनाइयों का विचार भी आपने किया है? अभीष्ट-सिद्धि के मार्ग एक से अधिक हो सकते हैं। पर विचारशील मनुष्य अल्पसाध्य और सुखसाध्य ही मार्ग का स्वीकार करते हैं; कष्टसाध्य और असाध्य का नहीं। क्या आप बँगला, गुजराती, मराठी और उर्दू में उन गुणों का होना हृदय से स्वीकार कर सकते हैं जो हिन्दी में हैं और जिनके कारण ही हिन्दी को व्यापक भाषा होने की योग्यता प्राप्त है। एक तो उसका प्राचीन साहित्य अनेक ग्रन्थ-रत्नों से परिपूर्ण है। दूसरे, जिन अक्षरों में वह लिखी जाती है उनसे अन्य प्रान्तवाले भी अधिकांश परिचित हैं। तीसरे, उसके बोलनेवालों की संख्या अधिक है। चौथे, जो लोग उसे नहीं बोलते वे भी उसे बहुत कुछ समझ सकते हैं। बताइए, ये गुण आपकी बँगला या और किसी "Richest Language" में हैं? आपने अपनी पुस्तक के पृष्ठ XIII पर भिन्न भिन्न भाषायें बोलनेवालों की जो संख्यायें दी हैं उन्हीं से हिन्दी की व्यापकता अच्छी तरह सिद्ध है। बँगला केवल ५ करोड़ लोगों की भाषा है; पर हिन्दी बोलनेवाले आठ करोड़ से भी अधिक हैं। पश्चिमी

और पूर्वी हिन्दी बोलनेवालों की संख्या आपने अलग अलग दिखाई है। यह भेद कृत्रिम है। प्रान्तिकता के कारण कोई भाषा और की और नहीं हो जाती। अतएव यदि इन दोनों के बोलने-वालों की संख्या भी मिला दी जाय तो हिन्दी-भाषा-भाषी जनों की संख्या कोई १० करोड़ हो जाय। इस दशा में हिन्दी को छोड़ कर और कौन भाषा ऐसी है जो राष्ट्र-भाषा होने की योग्यता रखती हो?

आशा है, प्रस्तुत पुस्तक के अगले संस्करण में, सम्पादक महाशय इस सम्बन्ध में यदि कुछ लिखेंगे तो सोच समझ कर लिखेंगे।

[नवम्बर १९१६]

हिन्दी-विश्वकोष

[६]

अँगरेज़ी भाषा में एक बहुत बड़ा कोष है। उसका नाम है:—Encyclopædia Britannica. बड़े और बहुविषय-पूर्ण होने ही के कारण उसका अनुवाद "विश्व-कोष" किया जाता है। क्योंकि विश्व की अनेक बातों का ज्ञान उस से होता है। कलकत्ते के श्रीयुत नगेन्द्रनाथ वसु ने उसी के टक्कर का एक ग्रन्थ बँगला में बनाया है और नाम उसका रक्खा है—विश्वकोष। इस कोष की २२ जिल्दें हैं। २७ वर्ष में यह कोष तैयार हुआ है। इस के कारण वसु महाशय की बड़ी ख्याति हुई है। निसन्देह यह कोष है भी बड़े महत्व का। वसु महाशय की विद्वत्ता, योग्यता, बहुज्ञता और प्रकाण्ड परिश्रम का यह आदर्श है। सुनते हैं, इसके प्रकाशन में कोई ७ लाख रुपया ख़र्च हुआ है। अब हिन्दी-भाषा-भाषी लोगों के—"आग्रह, उत्कण्ठा और आज्ञा" के वशीभूत हो कर वसु महोदय ने इस विश्वकोष का हिन्दी-संस्करण भी निकालना आरम्भ किया है। परन्तु इस कोष के दो हज़ार ग्राहक हुए बिना यह कार्य्य न चल सकेगा। हिन्दीविश्व-कोष का पहला खण्ड जो प्रकाशित हुआ है उसी से हमें यह बात ज्ञात हुई है। इस पहले खण्ड का प्रकाशन करनेवाली वसु ऐंड सन नाम की एक कम्पनी कलकत्ते में है। उस का दफ़र बाग़-बाजार की कांटा-पुकुर गली में है। इसी कम्पनी ने हिन्दी-कोश के पहले खण्ड की एक कापी हमें भेजी है। और साथ ही छपा हुआ, बिना तारीख़ का, एक पत्र भी अंगरेजी में भेजा है। विश्वकोष हिन्दी में, पर पत्र अँगरेज़ी में! इस कृत्य का औचित्य हमारी समझ में नहीं आया। हिन्दी न जाननेवाले अँगरेजी अखबारों के सम्पादकों के सुभीते के लिए यदि ऐसा किया गया है तो

अनुचित काम हुआ है। जिन हिन्दी-भाषा-भाषियों से २००० कापियाँ ख़रीदी जाने की आशा कोशकार या प्रकाशक करते हैं उनके सुभीते का ख़याल रखना उनका सर्वापेक्षा अधिक कर्तव्य था। अस्तु।

विश्वकोष बड़े ही महत्व और काम की चीज़ है। विद्या, विज्ञान, कलाकौशल, शिल्प, व्यवसाय, वाणिज्य, भूगोल, इतिहास, जीवनचरित आदि कोई भी विषय ऐसा नहीं जिस का थोड़ा बहुत समावेश अँगरेजी के विश्वकोष में न हुआ हो। अतएव यदि हिन्दी में ऐसा ही कोष तैयार हो जाय तो हिन्दी के सौभाग्य की प्रशंसा नहीं हो सकती। बँगला के विश्वकोष की जो समालोचनायें निकली हैं उनसे सूचित होता है कि वह अनेक अंशों में अँगरेजी कोष के समकक्ष है। उसमें प्रान्तिकता अवश्य है। परन्तु वङ्ग-भाषा में होने के कारण बङ्गला भाषा और बङ्गाल-प्रान्त की विशेषताओं को यदि उस में स्थान न मिलता तो इससे उस में न्यूनता आ जाती। अतएव उस की यह प्रान्तिकता भूषण ही में गिनी जा सकती है, दूषण में नहीं। यदि इसी बँगला-विश्वकोष का अनुवाद हिन्दी में किया जाता तो वही प्रान्तिकता, हिन्दी संस्करण में, अवश्य दूषण-भाव को प्राप्त हो जाती। इस के सिवा बँगला-विश्वकोष के आदिम खण्डों को निकले कई वर्ष हो चुके। तब से अनेक नये नये तथ्य ज्ञात हुए हैं; अनेक पुरानी बातें भ्रमपूर्ण सिद्ध हो चुकी हैं। इस कारण भी बँगला का अनुवाद हिन्दी में होना इष्ट न था। ख़ुशी की बात है, वसु महोदय हिन्दी-विश्वकोष को अनुवाद के रूप में न निकालेंगे। अतएव यदि इस कोश का काम योग्यता-पूर्वक होगा तो बँगला की प्रान्तिकता भी दूर हो जायगी और नई खोज से भ्रमपूर्ण तथा असत्य सिद्ध हुई पुरानी बातें भी इस में स्थान न पा सकेंगी।

इस विश्वकोष के कर्त्ता वसु महाशय का लिखा हुआ कोई हिन्दी-लेख या ग्रन्थ अब तक प्रकाशित हुआ नहीं सुना गया। अतएव लोगों को शङ्का हो सकती थी कि वे इस काम को सुचारु रूप से कर सकेंगे या नहीं। इसी से इस शङ्का के उत्थान के लिए वसु महाशय ने जगह ही नहीं रक्खी। नमूने के तौर पर हिन्दी-विश्वकोष का जो पहला खण्ड निकला है उस में लिखा है—हिन्दी-विश्वकोष के सम्पादकीय विभाग में हिन्दी के कई विद्वान् नियुक्त किये गये हैं। हिन्दी के ज्ञाताओं में बहुत ही थोड़े लोग 'विद्वान्' पद की सीमा के भीतर समझे जाते हैं। उन थोड़े में से भी कई विद्वान् विश्वकोष के सम्पादकीय विभाग में काम करने के लिए मिल गये, यह विश्वकोष के प्रकाशकों और उस के विद्वान् प्रणेता का अहोभाग्य ही समझिए।

यदि इस विश्वकोष के काफी ग्राहक हो गये और यह निकलता गया तो इस का प्रत्येक खण्ड बड़े बड़े ३२ पृष्ठों का होगा। यह कोश सचित्र होगा और हर महीने निकलेगा।

हमारी सम्मति में यह विश्वकोष संग्रह करने योग्य है। तैयार हो जाने पर अनेकानेक ज्ञातव्य बातों का यह ख़ज़ाना होगा। केवल हिन्दी भाषा जाननेवालों को इससे ऐसी सहस्रशः बातों का ज्ञान हो सकेगा जिन का ज्ञान और किसी तरह होना उनके लिए प्रायः असम्भव ही समझिए। यदि इस में सैकड़ों नहीं हज़ारों दोष हों, यहाँ तक कि यदि इस के प्रत्येक पृष्ठ पर भी दो दो चार चार भूलें हों तो भी इस का निर्भ्रम अंश अवशिष्ट रह जायगा। उतने ही के लिए यदि यह ख़रीदा जाय तो भी हिन्दी के प्रेमियों को लाभ ही होना चाहिए। हाँ, भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान से हानि हो सकती है। पर यदि इन बातों के शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति में एक

बात के भ्रमात्मक ज्ञान की प्राप्ति हो जाय तो एक हानि के लिए दस लाभों का परित्याग न करना चाहिए।

विश्वकोष के प्रकाशक वसु एंड सन ने अपनी चिट्ठी में इस कोष की समालोचना "Review" प्रकाशित करने की जो आज्ञा दी है उसका हम पालन कर चुके। "आलोचना" से प्रकाशकों का मतलब इस कोष की केवल प्रशंसा या विज्ञापन से है। उनके पत्र से यही बात सूचित होती है, क्योंकि उन्होंने अपने पत्र में लिखा है—

"A good deal of the prospects of the book depend on your appreciation of its merit and public announcement of the same."

अतएव प्रकाशकों की आज्ञा के अनुसार हम विश्वकोष के गुणों का अभिनन्दन और प्रकटीकरण कर चुके। परन्तु हमारा कर्त्तव्य हिन्दी-विश्वकोष के प्रकाशकों की आज्ञा का पालन करने के सिवा और भी कुछ है। जो सज्जन इस लेख को पढ़ेंगे उनसे किसी महत्वपूर्ण समालोच्य पुस्तक के सम्बन्ध की कोई बात छिपा रखना उन्हें धोखा देना है और यह हम करना नहीं चाहते। अतएव हम इस कोष के सम्बन्ध की दो चार दोषावह बातें भी, अपनी समझ के अनुसार, लिखे देते हैं। सम्भव है, कोश के विद्वान् सम्पादक इसके अगले खण्ड तैयार करने में विशेष सावधानी से काम लें और यथाशक्ति त्रुटियों को दूर कर दें।

शुद्ध भाषा लिखना कोई बड़ी बात या बड़ा गुण नहीं। विश्वकोष जैसे वृहद् और महत्वपूर्ण ग्रंथ के सम्पादक विशेष विद्वत्ता और योग्यता-पूर्ण पण्डित ही हो सकते हैं। जब वे समस्त विश्व के ज्ञान-समूह पर निबन्ध-रचना करने के लिए तैयार हुए हैं

तब उनके लिए विशुद्ध भाषा में अपने विचार प्रकट कर देना कोई बड़ी बात नहीं। यह बात छोटे मोटे अखबारों और पुस्तकों के लेखक तथा सम्पादक भी कर सकते हैं। परन्तु खेद के साथ कहना पड़ता है कि इस हिन्दी-विश्वकोष के विद्वान् सम्पादकों ने शुद्ध भाषा लिखने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। भाषा-सम्बन्धिनी भूलें इस कोष के पहले खण्ड में, जगह जगह पर, पाई जाती हैं। इस खण्ड के आवरण के चौथे पृष्ठ पर जो "संक्षिप्त विषयसूची" छपी है उस तक में भाषा की अशुद्धियाँ हैं। दो एक उदाहरण लीजिए—

(१) "बहुत से प्राचीन खोदे हुए ताम्र-फलक और शिला-लिपि का चित्र के साथ पूरा पूरा वर्णन और परिचय"

(२) "जगत की विभिन्न जातियों, समाज और धर्म के अभ्युत्थान और पतन का क्रम से इतिहास"।

इनमें से एक के विषय में निवेदन यह है कि यदि ताम्रफलक आदि "बहुत" से हैं" तो उनका प्रयोग बहुवचन में होना चाहिए था—"ताम्रफलकों और शिलालिपियों" लिखना चाहिए था। साथ ही चित्र की जगह "चित्रों" होना चाहिए था। नं० (२) उदाहरण के विषय में यह प्रार्थना है कि जिस तरह "जातियों" लिख कर जाति शब्द का प्रयोग बहुवचन में किया गया है उसी तरह "समाज" और "धर्म" का क्यों न होना चाहिए था? जगत् में जिस तरह भिन्न भिन्न अनेक जातियाँ हैं उसी तरह भिन्न भिन्न अनेक समाज और धर्म्म भी हैं। "समाज" और "धर्म्म" को समुदायवाचक मानकर यदि एक ही वचन में रखना मुनासिब समझा गया तो "जाति" शब्द में कौन सी ऐसी विशेषता थी जिसे एकमात्र उसे बहुवचन में रखना उचित समझा गया?

इसी विषय-सूची में एक जगह "छन्द-विद्या" और दूसरी जगह "औषधि" शब्द आये हैं। अब प्रश्न यह है कि क्या ये दोनों शब्द पाणिनि-व्याकरण के अनुसार शुद्ध हैं? इनको संस्कृत नहीं, किन्तु हिन्दी-शब्द मान कर तो इस तरह भी हम लिख सकते हैं। परन्तु इस कोष में पाणिनि-व्याकरण की बेतरह दुहाई दी गई है। प्रथम खण्ड के पहले ही पृष्ठ पर—"अकः सवर्णे दीर्घः"—और—"अतोरोरप्लुतादप्लुते"—सूत्र प्रमाण में उद्धृत किये गये हैं। अतएव या तो कोष-सम्पादक हिन्दी-शब्दों के साधन में संस्कृत-व्याकरण को प्रमाण न मानें, या यदि प्रमाण मानें तो "छन्द विद्या" और "औषधि" न लिखकर "छन्दोविद्या" और "ओषधि" या "औषध" लिखें।

इस कोश के प्रणेता और सम्पादकों ने, जान पड़ता है, इसका पहला खण्ड निकालने में बड़ी जल्दी की है। खोज से बहुत ही कम काम लिया है। चौथे पृष्ठ पर एक शब्द "अँकरा" है। उसके सम्बन्ध में लिखा है—

"एक प्रकार का खर जो गेहूँ के पौधों के बीच में उत्पन्न होता है और यह बैलों के खिलाने के काम में आता है।"

भाषा की शिथिलता और अशुद्धता को जाने दीजिए। विचार केवल इस बात का कीजिए कि कोषकार का यह लिखना कहाँ तक ठीक है। जिस जगह हम रहते हैं वह चारों तरफ़ खेतों से घिरी है। हमने तो गेहूँ के ही पौधों के बीच अँकरा उत्पन्न होते नहीं देखा। गेहूँ, चना, मटर, जौ, सभी के खेतों में वह होता है। बात यह कि किसान अच्छी तरह साफ़ करके बीज नहीं बोते। बीज या खाद में यदि अँकरा रहता है तो वह भी उग आता है; बीज चाहे जौ का हो, चाहे गेहूँ का, चाहे चने का, चाहे और

किसी का। होता वह रबी ही की फ़सल में अधिक है। कोशकार की एक बात और भी बड़ी विचित्र और हँसी लानेवाली है वे कहते हैं कि अँकरा बैलों को खिलाया जाता है। क्या कभी उन्होंने उसे गाय-भैंस के सामने डाला और उन्होंने उसे नहीं खाया? उसे तो बकरियाँ, गायें, भैंसें और बैल सभी खाते हैं। गङ्गा के कछार में तो कहीं कहीं चारे के लिए दस दस बीस बीस बीघे ज़मीन में अँकरा ही अँकरा बोया जाता है। इन त्रुटियों से सूचित होता है कि सम्पादकों ने खोज नहीं की। सुन सुनाकर या बँगला का विश्वकोष देखकर या अपने कच्चे तजरिबे के आधार ही पर उन्होंने लेखनी चलाई है। अँकरा जैसी तुच्छ और बहुजन-ज्ञात वस्तु के विवेचन में जब इसके सम्पादक भूलें कर सकते हैं तब बड़े बड़े तत्वों और विज्ञान-विवेचनों में उनसे भूलें हो जाने की बहुत अधिक सम्भावना है।

प्रस्तुत खण्ड के पृष्ठ ८ पर अंगूर के वर्णन में लिखा गया है कि अंगूर की बेल के लिए—"बाँस का एक मण्डप सा बनाते हैं।" इस पर हमारी प्रार्थना है कि सारा हिन्दुस्तान बङ्गाल नहीं। बँगाल में बाँस बहुत होता है। वहाँ मण्डप क्या घर तक बाँस के बनते हैं। पर जहाँ बाँस का आधिक्य नहीं वहाँ अंगूर की बेल चढ़ाने के लिए और चीज़ों की भी टट्टियाँ बनती हैं। हमारे मकान के पास ही, कानपुर में, दो एक बाग़ हैं। उनमें अंगूर की बेलें चढ़ाने के लिए और लकड़ी भी काम में लाई गई है।

अंगरखा शब्द के विवेचन में कोशकारों ने लिखा है—"अँगरखा दोनों घुटनों के नीचे तक बनता है।" इस पर हमारा निवेदन है कि अंगरखा कमर तक भी बनता है और इन पंक्तियों का लेखक, जाड़ों में, सलूके के बदले ऐसे अनेक अंगरखे पहन

चुका है। सम्पादकों का किया हुआ अंगरखे का लक्षण बङ्गाल के लिए ही ठीक हो सकता है। सारे भारत या हिन्दीभाषाभाषी लोगों के लिये नहीं। बँगला-विश्वकोष की नक़ल समझ बूझ कर करनी चाहिए।

हिन्दी-विश्वकोष के पहले खण्ड में अनेक ऐसे शब्द हैं जिन्हें हमने न तो कभी किसी पुस्तक में देखा और न कभी किसी के मुँह से ही सुना। उदाहरण के लिए—तेतुआ, अऊत, अऊलना, अंकटा, अंकटी आदि। यदि ये शब्द किसी लेखक की पुस्तक में प्रयुक्त हुए हैं तो उसका प्रमाण देना चाहिए था। यदि ये किसी प्रान्त के गँवारू शब्द हैं तो उस प्रान्त का नाम देना चाहिए था। यदि इनका सम्बन्ध बङ्गभाषा या उसकी किसी प्रान्तिक बोली से है तो वैसा लिख देना था। इनको इस कोष में देखकर यदि कोई इस तरफ़ इनका व्यवहार करने लगे तो इनका मतलब समझेगा कौन? यह स्वल्प लेख हम देहात में बैठे हुए लिख रहे हैं। बँगला-विश्वकोष यहाँ पर हमें देखने को नहीं मिल सकता। अतएव हम नहीं कह सकते कि इस हिन्दी-कोष में बँगला-संस्करण का कहाँ तक अनुसरण किया गया है।

अकरास-शब्द का अर्थ लिखा गया है—

"अगड़ाना। देह का टूटना। आलस्य। सुस्ती।" परन्तु अवध-प्रान्त में इसका सब से प्रसिद्ध अर्थ है—तकलीफ़ या कष्ट। जो अर्थ सम्पादकों ने इस शब्द के दिये हैं वे, नहीं मालूम, किस प्रान्त में प्रसिद्ध हैं।

प्रूफ-संशोधन में भी भूलें रह गई हैं। पृष्ठ २ पर "अउ" शब्द के सामने छपा है—"इसकी योजना पद्य में ही होती है।" यहाँ पर

"पद्य" के बदले पथ छप गया है, जिसका कारण प्रूफ पढ़नेवाले महाशय का दृष्टि-दोष ही जान पड़ता है।

यद्यपि इस प्रकार की इसमें अनेक त्रुटियाँ हैं, तथापि हमारी आन्तरिक कामना है कि इस कोष के काफ़ी ग्राहक हो जायँ और यह निकलता जाय। साथ ही हमारी यह भी प्रार्थना है कि इसके विद्वान् सम्पादक अगले खण्डों के सम्पादन में विशेष मनोयोग, खोज और परिश्रम से काम लें।

[जून १९२७]

"पराक्रमनी प्रसादी"

[१०]

हमारे संयुक्त-प्रान्तों में हिन्दी के अच्छे लेखकों की बड़ी कमी है। जिन की मातृभाषा हिन्दी है वे हिन्दी की क़दर ही नहीं करते। उनमें से अधिकांश लोग तो उर्दू ही के क्रीतदास से हैं। इसी से हिन्दीसाहित्य की इतनी हीन दशा है। परन्तु दुःख की बात तो यह है कि जो लोग हिन्दी लिख सकते हैं और लिखने के लिए समय भी निकाल सकते हैं वे भी उससे दूर भागते हैं। ऐसे भी कितने ही सज्जन हैं जो विद्यार्थि-दशा में तो हिन्दी के बड़े प्रेमी रहते हैं—हिन्दी लिखते भी हैं और हिन्दी लेखकों की शिष्यता स्वीकार करने में अपना गौरव तक समझते हैं—पर वकील, बैरिस्टर, इन्सपेक्टर, टीचर, पोस्टमास्टर अथवा ऐसे ही कोई और 'टर' हो जाने पर वे अपने सारे पूर्व-प्रेम को उठा कर ताक़ पर रख देते हैं। ऐसी दशा में बेचारी हिन्दी कैसे उन्नति कर सकती है। अभी उस दिन इलाहाबाद में ऐंग्लो-बङ्गाली हाई स्कूल का जलसा था। छात्रों को इनाम बाँटा गया था। हमारे छोटे लाट सर जेम्स म्यस्टन भी उस में शरीक हुए थे। उन्होंने वहाँ अपने वक्तव्य में बङ्ग-भाषा के साहित्य की उन्नति पर हर्ष और सन्तोष प्रकट किया था और इस सम्बन्ध में बङ्गालियों की बड़ी बड़ाई की थी। यह बड़ाई बङ्गालियों को कभी प्राप्त न होती यदि शिक्षित वङ्गवासी अपनी भाषा की क़दर न करते और उस में पुस्तकें लिखना अपनी हतक समझते। पर हज़ार अनुनय-विनय करने पर भी हमारे प्रान्तवासी शिक्षित हिन्दू इस ओर ध्यान नहीं देते। अन्य प्रान्तों में अनेक, हेड मास्टर और प्रोफ़ेसर तक अपनी भाषा लिखते पढ़ते हैं। पर इन प्रान्तों में एक छोटा

सा मास्टर भी हिन्दी लिखने की कृपा नहीं करता। स्कूलों के कितने ही असिस्टन्ट इन्सपेक्टर, डिपुटी इन्सपेक्टर इन प्रान्तों में ऐसे हैं जो, यदि चाहें तो बहुत कुछ हिन्दी-प्रचार कर सकते हैं, पर नहीं चाहते। वे अपनी इन्सपेक्टरी ही में मस्त हैं। लिखना तो दूर रहा, वे हिन्दी की अच्छी से अच्छी पुस्तकों और पत्रों का नाम तक नहीं जानते। अफ़सोस।

बङ्गाल, महाराष्ट्र और गुजरात में यह बात नहीं। वहाँ उच्च-पदस्थ कर्मचारी भी अपनी भाषा की सेवा करते हैं। बड़े बड़े बारिस्टर, इन्सपेक्टर और हेड मास्टर अपनी मातृभाषा में पुस्तक-रचना करते हैं। अहमदाबाद के हाईस्कूल के हेड मास्टर, श्रीयुत केशवलाल हर्षदराय ध्रुव, बी० ए०, उन्हीं में से हैं। ध्रुव महाशय संस्कृत के उत्तम विद्वान्, पुरातत्व के अच्छे ज्ञाता और गुजराती भाषा के सुकवि तथा सुलेखक हैं। उन्होंने गीतगोविन्द मुद्राराक्षस, अमरुशतक और घटकर्पर आदि संस्कृतग्रन्थों के, गुजराती-अनुवाद कर के उन्हें टीका-टिप्पणी समेत प्रकाशित किया है। गवेषणापूर्ण भूमिकायें लिख कर उनमें उन्होंने मूल-लेखकों के समय आदि के विचार में अप्रतिम विद्वत्ता दिखाई है। गुजराती जाननेवालों में इन पुस्तकों का बड़ा आदर है। इस समय आप विक्रमोर्वशीय का एक महत्वपूर्ण संस्करण तैयार कर रहे हैं। उसकी भूमिका में कालिदास के सम्बन्ध में, आशा है, अनेक ऐतिहासिक बातों पर वे विचार करेंगे।

ध्रुव महाशय ने विक्रमोर्वशीय का अनुवाद भी गुजराती-भाषा में किया है और पुस्तक का नाम रक्खा है—पराक्रमनी प्रसादी। आपने पद्य का अनुवाद पद्य में और गद्य का गद्य में किया है। इस पुस्तक के पहले दो संस्करण, थोड़े ही समय में,

बिक गये। अब तीसरा संस्करण निकला है। इसी के विषय में हमें कुछ निवेदन करना है।

हमारे लिखे हुए, कालिदास के सम्बन्ध में, अनेक लेख प्रकाशित हो चुके हैं। उन में कालिदास के समय का निरूपण भी हुआ है। हमारा मत है कि कालिदास ईसा के पूर्व पहले शतक के कवि हैं। यही मत और भी कितने ही महाशयों का है। पर कई देशी और विदेशी विद्वान् इस मत को नहीं मानते। उन में से कोई तो कालिदास का समय सन् ईसवी का चौथा शतक, कोई पाँचवा और कोई छठा बताते हैं। इन विद्वानों के मत का भी उल्लेख, समय समय पर, हम कर चुके हैं। परन्तु अब कुछ ऐसे लक्षण दिखाई दे रहे हैं कि इन पिछले पण्डितों का मत बहुत दिन तक नहीं टिक सकता। उस पर धक्के पर धक्के लग रहे हैं। ध्रुव महाशय ने भी उसे एक ज़ोर का धक्का दिया है; उसे हिला डाला है। उन्होंने विक्रमोर्वशीय की भूमिका में बिलकुल ही नये ढंग से कालिदास के समय का विचार कर के उन्हें ईसा के पूर्व पहले शतक का निश्चित किया है। खेद इतना ही है कि आपका लेख गुजराती भाषा में है। अतएव जो पुरातत्व-वेत्ता जर्मनी, फ्रांस, रूस और इंगलेंड में बैठे हुए कालिदास को पीछे खींचने की चेष्टा कर रहे हैं उन तक इस धक्के का वेग शायद न पहुँचे। ख़ैर, कुछ डर नहीं। ध्रुव महाशय विक्रमोर्वशीय का जो संस्करण, मूल संस्कृत में, निकालने वाले हैं उसमें वे अवश्य ही अपने विचार अंगरेज़ी में व्यक्त करेंगे।

ध्रुव महोदय ने पहले भास, अश्वघोष, वसुबन्धु, पतञ्जलि, सुबन्धु, भारवि, माघ, विशाखदत्त, श्रीहर्ष, भवभूति आदि में से कई पुराने कवियों का समय-निरूपण किया है। फिर प्रत्येक के ग्रन्थों में प्रयुक्त वृत्तों पर विचार किया है और यह दिखाया है

कि बहुत प्राचीन काल में कौन कौन वृत्त अधिक प्रयुक्त होते थे, और धीरे धीरे परवर्ती कवियों ने किन किन नये छन्दों का प्रयोग आरम्भ किया था। प्रत्येक ग्रन्थ में प्रयुक्त अनुष्टुभ्, गाथा, आर्य्या, आख्यानकी, उपजाति, वंशस्थ, वसन्ततिलका, मालिनी, प्रहर्षिणी, रथोद्धता, पुष्पिताग्रा, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा आदि छन्दों को गिन कर उनकी एक सूची उन्होंने प्रकाशित की है। यथास्थान यति का न होना और वर्णविशेष की शिथिलता पर भी आपने विचार किया है। ऐसे स्थलों की भी सूची आपने दे दी है। फिर इन्हीं बातों का विचार आपने कालिदास के काव्यों और नाटकों के सम्बन्ध में किया है। आपने दिखाया है कि सबसे पुराने काव्यों में अनुष्टुभ् और आख्यानकी (उपजाति) ही की अधिकता है। कालिदास के रघुवंश में १९ सर्ग हैं। उसमें अनुष्टुभ् और आख्यानकी, रथोद्धता, वंशस्थ, द्रुतविलम्बित और वियोगिनी छन्द ही व्यापक छन्द हैं। प्रहर्षिणी, वसन्ततिलका, हरिणी, मालिनी आदि एकदेशीय हैं। उन्नीस सर्गों में ६ सर्ग अनुष्टुभ् में हैं और ८ आख्यानकी में। शेष और छन्दों में। बुद्धचरित के केवल १३ सर्ग मिलते हैं। उनमें से ३ सर्ग अनुष्टुभ् में और ८ आख्यानकी में हैं। इन दोनों कवियों ने केवल सम और अर्द्ध-सम वृत्त लिखे हैं। पर उनके परवर्त्ती भारवि ने विषम, और माघ ने जाति-श्रेणी के भी छन्दों का प्रयोग किया है। बहुत पुराने ज़माने के कवियों के काव्यों में इन छन्दों का प्रयोग नहीं देखा जाता। पहले दोनों कवियों के काव्यों में १२ अक्षरों से अधिक वाले एक भी व्यापक और १७-१८ अक्षरों से अधिक वाले एक भी एकदेशीय छन्द नहीं। पर परवर्त्ती भारवि और माघ के काव्यों में यह अक्षर-संख्या क्रम से १३-१५ से लेकर १७-२१ तक पहुँच गई है। अतएव सिद्ध है कि कालिदास भारवि के समय के

कवि नहीं, किन्तु अश्वघोष के समय के हैं। अनुष्टुभ् आर्ष-छन्द है; आख्यानकी उसके बाद का है। इन दोनों की अधिकता रघुवंश और बुद्धचरित में है। रघुवंश में माल्यभारिणी नामक वृत्त एकदेशीय है। अर्थात् किसी पूरे सर्ग की रचना उस में नहीं की गई। फुटकर तौर पर यह छन्द आया है। पर यही एकदेशीय छन्द बुद्धचरित में व्यापक भाव से वर्तमान है। इसके सिवा रुचिरा और शिखरिणी भी बुद्धचरित में व्यापक हैं। इस से साफ़ सूचित होता है कि बुद्धचरित रघुवंश के बाद का है। बुद्ध-चरित के प्रणेता अश्वघोष सन् ईसवी के पहले शतक में विद्यमान थे। यह बात ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध है। अतएव, इससे यह भी सिद्ध समझिए कि अश्वघोष से कम से कम सौ वर्ष पहले कालिदास हुए होंगे। निष्कर्ष यह निकला कि जिस विक्रम के नाम से अपना संवत् प्रचलित है उसी के समय में, अर्थात् इसवी सन् से ५६ वर्ष पहले, कालिदास का समय समझना चाहिए।

"पराक्रमनी प्रसादी" की भूमिका के विद्वान् लेखक की यही मुख्य दलील है। इसके सिवा और भी कई युक्तियों से उन्होंने अपने सिद्धान्त की पुष्टि की है। परन्तु उन सब बातों का उल्लेख इस छोटे से लेख में नहीं हो सकता। जो गुजराती भाषा पढ़ सकते हैं उन्हें ध्रुव महाशय का मूल लेख पढ़ना चाहिए। उनकी पूर्वोक्त पुस्तक ओरियंटल बुक डिपो, अहमदाबाद, से १२ आने में मिल सकती है। पुस्तक अच्छी छपी है। सचित्र है। जिल्द बँधी हुई है।

ध्रुव महाशय की राय है कि कालिदास का पहला काव्य कुमार-सम्भव है और सबसे पिछला रघुवंश। इस महाकवि ने

अपने तीनों नाटक कुमार-सम्भव लिखने के बाद बनाये। नाटकों में मालविकाग्निमित्र पहले, विक्रमोर्व्वशीय उसके बाद और अभिज्ञान-शाकुन्तल सब से पीछे बनाया। इन सिद्धान्तों का भी दृढ़ीकरण उन्होंने अपने छन्दःप्रयोग वाली कसौटी पर कस कर किया है। भास के नाटकों से लेकर भवभूति के नाटकों तक में प्रयुक्त छन्दों की तालिका जो उन्होंने दी है उसे देख कर तो उनके सिद्धान्त की सत्यता आँखों के सामने प्रत्यक्ष सी हो जाती है। भास के प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण और स्वप्नवासवदत्त में पहले ही पहल गाथा का दर्शन होता है; पर प्राकृत-कविता का सम्पूर्ण अभाव देखा जाता है। इससे सूचित होता है कि कालिदास के पूर्ववर्ती भास के समय में प्राकृत-कविता का प्रचार बहुत ही कम था, अथवा बिलकुल ही न था। प्राकृतभाषायें उस समय बन रही थीं। कालिदास के समय में प्राकृत में भी कविता होने लगी थी, क्योंकि कालिदास के नाटकों में वैसी कविता पाई जाती है। इस कसौटी से भी कालिदास की प्राचीनता सिद्ध होती है।

ध्रुव महोदय की राय है कि रघुवंश का थोड़ा बहुत अन्तिम अंश ज़रूर नष्ट हो गया है। जहाँ पर वह समाप्त होता है वहीं कालिदास ने उसे न छोड़ा होगा। कुमार-सम्भव के पहले आठ ही सर्ग आप कालिदास के लिखे हुए बताते हैं। पीछे के सर्ग किसी और ने लिख कर जोड़ दिये हैं। यह बात उन नौ सर्गों की कविता की शिथिलता तथा अन्य दोषों से साबित होती है। जिन छन्दों का प्रयोग कालिदास ने समग्र रघुवंश और कुमार-सम्भव के पहले आठ सर्गों में व्यापक तथा अव्यापक रूप में नहीं किया वे छन्द भी कुमार-सम्भव के पिछले नौ सर्गों में प्रयुक्त हैं। इससे भी यह सूचित होता है कि वे सर्ग कालिदास की कृति नहीं। इसी से शायद मल्लिनाथ ने उन सर्गों की टीका नहीं लिखी।

पर इससे यह न समझना चाहिए कि आठ ही सर्ग लिख कर कालिदास ने कुमारसम्भव छोड़ दिया था। बहुत सम्भव है, उन्होंने और भी कई सर्ग लिखे हों, पर वे नष्ट हो गये हों। इस सम्भावना का एक कारण है। विक्रमोर्व्वशीय के अन्त में कवि-कुलगुरु ने नारद मुनि के हाथ से आयु का यौवराज्याभिषेक कराया है। उस समय उन्होंने कुमार कार्तिकेय के सेनापति-पद पर अभिषिक्त होने का स्मरण किया है। उससे ऐसा भासित होता है जैसे वे अपने कुमार-सम्भव में वर्णन किये गये कार्तिकेय के अभिषेक की याद दिला रहे हों। इसी से अनुमान होता है कि कालिदास ने कुमार-सम्भव के आठवें सर्ग के आगे भी कुछ लिखा होगा। पर किसी कारण से वह अंश नष्ट हो गया।

ऐसे ही ऐसे और भी कितने ही रहस्यों के उद्घाटन की चेष्टा श्रीयुत केशवलाल जी ने "पराक्रमनी प्रसादी" में की है। एतदर्थ आप को अनेक साधुवाद।

संस्कृत के महाकाव्यों में जिन वृत्तों का प्रयोग हुआ है वे गुजराती भाषा के कवियों की कविता में भी पाये जाते हैं। उन वृत्तों का उपयोग गुजराती में प्रतिदिन होता है। केशवलाल जी ने भी "पराक्रमनी प्रसादी" में उन से काम लिया है। परन्तु गुजराती वृत्तों में एक विशेषता देखी जाती है। वह यह कि पिङ्गल-सूत्रवृत्ति और वृत्त-रत्नाकर आदि में कहे हुए लक्षणों का अनु-सरण कर के भी कभी कभी लघु को दीर्घ और दीर्घ को लघु करने की प्रवृत्ति गुजराती-कवित्ता में दिन पर दिन बढ़ती सी जा रही है। उदाहरण के लिए "पराक्रमनी प्रसादी" का पहला पद्य देखिए—

विश्वे व्यापक एक पुरूष करी वेदान्त जेने भणे;
संज्ञा ईश्वरनी जथारथ घटे जेनेज, ना अन्यने।
रोधी प्राण मुमुक्ष, अन्तर विशे शोधे वली जेहने;
शम्भु भावनी भक्ति से सुलभ ते शम्भुज हो सर्वने॥

इसमें चिन्हों द्वारा 'पुरूष' के 'पु' को दीर्घ, 'शम्भु' के 'भु' को भी दीर्घ और 'भावनी' के 'नी' को ह्रस्व पढ़ने की आज्ञा है। इन विशेष चिन्हों की कल्पना की क्या आवश्यकता? यदि संस्कृत में बिना ऐसे चिन्हों की कल्पना के काम चल गया और अब भी चल जाता है तो गुजराती में भी चल सकता है। इस तरह के चिन्ह कवि के रचना-चातुर्य्य का लाघव सूचित करते हैं, गौरव नहीं। जो अच्छा कवि है और जिसके पास यथेष्ट शब्द-सम्पत्ति है उसे शब्दों को तोड़ने मरोड़ने की क्या आवश्यकता? हिन्दी जैसी अनुन्नत भाषा के भी कई एक वर्तमान-कालीन कवि ऐसे वृत्तों में दीर्घ को लघु और लघु को दीर्घ पढ़ने का नियम किये बिना ही पद्यरचना करते हैं। फिर गुजराती में भी ऐसी रचना क्यों न होनी चाहिए? आशा है ध्रुव महाशय इस पर विचार करेंगे और श्रीकण्ठ-चरित के इस श्लोक का स्मरण कर लेंगे—

अभ्रंकषोन्मिषितकीर्तिसितातपत्रः
स्तुत्यः स एव कविमण्डलचक्रवर्ती।
यस्येच्छयैव पुरतः स्वयमुज्जिहीते
द्राग्वाच्यवाचकमयः पृतनानिवेशः॥

[मार्च १९१३]

अक्षर-विज्ञान *

[११]

हिन्दी-लेखकों पर बहुधा यह दोष लगाया जाता है कि वे अनुवाद करने ही में बड़े दक्ष हैं; आश्रय और आधार के भरोसे ही वे लेखक और ग्रन्थकार बनना चाहते हैं। यह आरोप निर्मूल नहीं। तथापि सभी अनुवादकों को, केवल अनुवादक होने ही के कारण, तुच्छदृष्टि से देखना अन्याय है। अनुवाद यदि किसी अच्छे, उपयोगी और समयोचित ग्रन्थ का है तो ऐसा एक ही अनुवाद अनेक छोटी छोटी नई पुस्तकों की अपेक्षा अधिक आदर की चीज़ है। फिर, एक बात यह भी है। दुनिया में नयापन—नूतनत्व—ऐसी चीज़ नहीं जो गली गली मारी मारी फिरती हो। नूतन ग्रन्थों और लेखों में भी और लोगों के विचार बहुधा पाये ही जाते हैं। ऐसा कौन है जिसने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारों के विचारों से लाभ न उठाया हो और जिसके ग्रन्थों पर पुराने लेखकों के विचारों की छाया न पड़ी हो? फिर, हिन्दी का साहित्य अभी बाल्यदशा ही में है। कुछ ही समय से दस पाँच कृतविद्य जनों की दृष्टि इस ओर खिँची है। अतएव सभी अनुवादों को कुदृष्टि से देखना और आश्रय तथा आधार शब्दों पर नाक-भौंह चढ़ाना युक्तिसङ्गत नहीं।

हर्ष की बात है, ऐसी दशा में भी, आज, हमें एक ऐसी पुस्तक का परिचय पाठकों से कराना है जिसका अधिकांश बिलकुल ही नया है; जिसके लिखने में लेखक ने अपने दिमाग़ से बहुत कुछ

* लेखक, पण्डित रघुनन्दन शर्मा; प्रकाशक, शूरजी वल्लभदास ऐंड कम्पनी, बड़गादी, मुम्बई; पृष्ठ-संख्या १५ × १३६; मूल्य १ रुपया।

काम लिया है; जिसमें जगह जगह पर लेखक की चिन्ताशीलता का प्रमाण मिलता है; जिसको लिखने के पहले लेखक को भिन्न भिन्न भाषाओं की अनेकानेक पुस्तकों का परिशीलन करना पड़ा है। अक्षर-विज्ञान नामक पुस्तक ऐसी ही है। ऐसी महत्वपूर्ण पुस्तक लिखने के कारण लेखक महाशय को बहुत बहुत साधुवाद। आपकी लिखी और कोई पुस्तक या और कोई लेख आज तक हमारे देखने में नहीं आया। प्रस्तुत पुस्तक आपकी पहली ही रचना मालूम होती है, और, इस पहली ही रचना में आपने खूब विचारस्वातन्त्र्य और स्वाधीन चिन्ता से काम लिया है। अतएव आपकी इस पुस्तक का महत्व और भी बढ़ गया है। इस में क्या है, सो लेखक ही के मुख से सुन लीजिए—

"इस पुस्तक में तीन प्रकरणों में बताया गया है कि सृष्टि का रचनेवाला परमेश्वर अवश्य है। आदि में मनुष्य का बाप मनुष्य ही था, बन्दर नहीं। सारी सृष्टि एक ही स्थान अर्थात् हिमालय पर ही पैदा हुई थी। मूल-पुरुष भाषा बोलते ही पैदा हुए थे और जो शब्द बोलते थे वे अर्थ और ज्ञान से युक्त होते थे। दूसरे प्रकरण में दिखाया गया है कि वह आदिज्ञान वेद और आदि भाषा वैदिक थी। इसकी पुष्टिमें बतलाया गया है कि ज्योतिष, वैद्यक, नीति, धर्म, व्यापार और राज्यप्रणाली पृथ्वीभर में भारतवर्ष और वेद से ही फैली है तथा संस्कृत, ज़ेन्द, फ़ारसी, अँगरेज़ी, अरबी, स्वाहिली, चीना, जापानी और द्राविड़ी आदि संसार की प्रधान प्रधान भाषायें, जो अपनी अनेक शाखाओं के साथ दुनिया भर में फैली हैं, वेद-भाषा से ही निकली हैं। सब भाषाओं के शब्द देकर यह विषय प्रमाणित किया गया है कि वेद-भाषा मनगढ़न्त नहीं है। उसके धातु सृष्टि-नियम के अनुकूल और एक एक अक्षर, विज्ञान के अनुसार, अपना अपना अर्थ रखता है। अतः अर्थ के अनुरूप

ही उन अक्षरों का रूप भी बताया गया था और ऋषि लोग वैदिक काल में भी लिखना जानते थे।"

यही पुस्तक-प्रणेता महाशय की पुस्तक का सार अंश है। इन्हीं बातों का विस्तार आपने पुस्तक में किया है। विषय-प्रतिपादन में आपने तर्क और युक्ति से अच्छा काम लिया है। अपने कथन की पुष्टि में आपने प्रमाण भी दिये हैं। आपकी युक्तियाँ सबल हों या निर्बल और आपके प्रमाण वर्ण्य विषय के यथेष्ट परिपोषक हों या न हों, यह बात ही और है। कहने का मतलब केवल इतना ही है कि आपने जो कुछ लिखा है सो समझ बूझ कर, विचारपूर्वक, लिखा है और प्रतिपादन की इतिश्री आपने अपने ही कथन पर नहीं कर दी। आपके इस गुण और इस लेखन-शैली का हम हृदय से अभिनन्दन करते हैं।

पुस्तक का प्रधान विषय यद्यपि अक्षर-विज्ञान है तथापि पुस्तक का अधिकांश मनुष्य की आदिम सृष्टि और भाषाविज्ञान के वर्णन ही में ख़र्च हो गया है। इससे मूलविषय का सङ्कोच हो गया है। वही विषय प्रधान था। अतएव वह कुछ और विस्तार के साथ वर्णन किया जाता तो अच्छा होता।

बेचारे डारविन के कीर्ति-चन्द्र पर खग्रास ग्रहण लगने के लक्षण दिखाई देने लगे हैं। प्रोफ़ेसर बेटसन, प्रोफ़ेसर मेंडल और मैडम हेनरी आदि के युक्तिसमूह राहु बन कर उसका ग्रास करने के इरादे में थे ही कि अक्षर-विज्ञान के लेखक के युक्तिवाद भी उनकी सहायता के लिए तैयार होकर निकल पड़े। दुःख इतना ही है कि आपकी पुस्तक अँगरेज़ी में नहीं। इस कारण डारविन के प्रतिपक्षी शायद उससे फ़ायदा न उठा सकें।

लेखक महाशय ने विकास-वाद के खण्डन में जिन युक्तियों का प्रयोग किया है उनके परीक्षण की न तो हममें योग्यता है और न हमें उस काम के लिए अवकाश ही है। अतएव हम केवल आप के निष्कर्षों का उल्लेख ही करके चुप रहेंगे। आपकी उक्तियाँ नीचे लिखी जाती हैं:—

विकास-वाद के सिद्धान्त हैं—(१) "आपही आप, धीरे धीरे, मातापिता के अतिरिक्त भी कुछ गुण एकत्रित करते करते कुछ काल में एक नये रूप की नई जाति बन जाती है अथवा (२) पृथक् पृथक् दो श्रेणियों के मिश्रण से मिश्रयोनिज जाति बन जाती है।"

पुस्तककार ने इन दोनों बातों का खण्डन करते हुए इनके सिद्धान्तों की जगह जगह पर दिल्लगी उड़ाई है। पिछली बात, अर्थात् मिश्रयोनिज जाति, के विषय में लिखा है कि "क़लमी आम में आम के बीज नहीं होते" और "घोड़े-गधे से उत्पन्न हुए खच्चर से वंश नहीं चलता" अतएव गोरिला आदि बन्दरों से मनुष्य की सृष्टि होना असम्भव है। क्योंकि न्यायशास्त्र के अनुसार—"समान-प्रसवात्मिका जातिः"—अर्थात् जिसमें समान-प्रसव हो वही जाति है। मनुष्य और बन्दर के संयोग से गर्भधारणा नहीं होती। इस कारण यह सिद्धान्त ग़लत है। आपकी दी हुई युक्तियों का विचार इस शास्त्र के जाननेवाले करें। हम केवल क़लमी आम की प्रसव-शक्ति ही के विषय में एक बात कह कर आगे बढ़ेंगे। कोई तीस वर्ष हुए हम हुशङ्गाबाद के रेलवे स्टेशन पर थे। स्टेशन के पास ही एक बँगले के आँगन में हमने बम्बई के 'हापुस" नामक क़लमी आम की एक गुठली गाड़ दी। उससे पौधा निकला। उसका पेड़ हो गया। आज से कोई १५–२० वर्ष पूर्व हम बम्बई से झाँसी आ रहे थे। मार्ग में हुशङ्गाबाद मिला। वहाँ हमने स्टेशन-मास्टर, दामोदर विनायक चापेकर, से अपने लगाये हुए आम का हाल

पूछा। उन्होंने कहा—"वह पेड़ अब फल देने लगा है"। अन्तर-विज्ञान के लेखक महाशय यदि हुशङ्गाबाद से कभी गुज़रें तो कृपा करके स्टेशन-मास्टर से इस पेड़ की बाबत ज़रूर पूछपाछ करें। वह अब तक बना है या नहीं, और है तो फल देता है या नहीं? एक क़लमी आम की गुठली से उत्पन्न हुआ पौधा हमने अपने जन्मग्राम में भी लगाया था। वह जल्द बढ़ा और फल देने लगा। पर, आज कोई चार साल का अरसा हुआ, जड़ में दीमक लग जाने से, वह सूख गया। इन उदाहरणों से हमारा अभिप्राय आपकी युक्तियों को काटना नहीं है। हमने सिर्फ़ अपना तजरुबा लिख दिया है। सम्भव है, हमारे ये तजरुबे अपवाद-रूप हों। इनकी सङ्गति लगाना पुस्तककार का काम है। उनका कथन है—

"वंशपरम्परा के प्रतिकूल ज़रा भी आकार-प्रकार में परिवर्तन होने से वंश नहीं चलता। तब विकासवाद में, क्रम क्रम उन्नति वाले धोखे के विश्वास में, कुछ भी दम नहीं। × × × × बन्दर और गोरेला (वनमनुष्य) की बनावट में इतना अन्तर नहीं है जितना गोरेला और मनुष्य में अन्तर है। और यह अन्तर ऐसा है जिसको विज्ञान कभी भी एक न होने देगा। × × × × × अतः यह निश्चय है—निर्विवाद है, निःसंशय है—कि आदि-सृष्टि में मनुष्य इसी प्रकार हुआ जिस प्रकार का अब है, और होना ही चाहिए था"।

रसायन-शास्त्र के आचार्यों ने प्राणियों के ख़ून की परीक्षा का एक नया ढँग निकाला है। उससे उन्होंने यह निश्चय किया है कि प्राणियों के ख़ून की कणिकाओं का आकार जुदा जुदा होता है। आप कुत्ते, बिल्ली, हिरन, बन्दर, मनुष्य, साँप आदि के ख़ून उन को दीजिए। वे बता देंगे कि कौन ख़ून किस जाति के प्राणी का है। इनकी परीक्षाओं से सिद्ध हो गया है कि मनुष्य और बन्दर के

ख़ून की कणिकाओं का आकार प्रायः एक ही सा होता है। अतएव इन्होंने यह सिद्धान्त निश्चित किया है कि मनुष्य बन्दर ही की कोटि का प्राणी है। इससे डारविन के सिद्धान्त की तो पुष्टि हुई; पर अनेक पशु-विद्याविशारदों के सिद्धान्तों को धक्का पहुँचा। कितनी ही पशु-पक्षियों के जाति-निर्देश में भूलें निकलीं। यथा—अब तक विद्वानों की समझ थी कि गिनी फाउल नामक चिड़िया मुरग़ी की जाति की है; पर यह यथार्थ में है शुतुरमुर्ग़ की जाति की। इसी तरह भालू को ये लोग, कुत्ते और गीदड़ की तरह, स्थलचर समझते थे, पर यथार्थ में है वह जलचर—शील आदि प्राणियों की जाति का। यह रासायनिक परीक्षा अब सर्वमान्य समझी जाती है। इससे इस पुस्तक के लेखक के सिद्धान्त का खण्डन और डारविन के सिद्धान्त का मण्डन होता है। अतएव लेखक महाशय को चाहिए कि पुस्तक के अगले संस्करण में इस रुधिर-विषयक सिद्धान्त के खण्डन की भी चेष्टा करें।

जैसा ऊपर, एक जगह पर, लिखा जा चुका है, आपकी राय है कि—"आदि-सृष्टि हिमालय पर ही पैदा हुई और वहीं से मनुष्य सारी पृथिवी में गये। यह ख़याल ग़लत है कि मनुष्य पृथिवी के हर भाग में पैदा हुए"। इसलिए कि—

"मनुष्यों की आदि सृष्टि गर्म, मातदिल और पृथिवी के सब से ऊँचे स्थान में" ही हो सकती थी और ऐसा—"स्थान हिमालय ही है, जो शीत और उष्णता को मिलाता और पृथिवी भर में सबसे ऊँचा है"।

हिमालय पर आदि सृष्टि करके परमेश्वर ने—

"हमारे बुज़ुर्गों को शुरू में सब आवश्यक और प्रावेशिक तथा सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों को बतला दिया, जिसे हम बुनियादी

इलहाम कहते हैं × × × मूल पुरुषों को सूक्ष्म ज्ञान सिखाने और वह ज्ञान औरों में फैलाने के लिए उनको परमात्मा ने भाषा अवश्य दी "।

क्योंकि—

"जिस प्रकार बिना भाषा के सूक्ष्म ज्ञान नहीं सिखलाया जा सकता उसी प्रकार बिना किसी भाषा के भाषा भी तो नहीं सिखलाई जा सकती "।

लेखक महाशय का कहना है कि ईश्वर ने हिमालय पर मनुष्यों की आदि-सृष्टि करके उन्हें सूक्ष्म से भी सूक्ष्म ज्ञान-प्राप्ति का साधन दे दिया और उन्हें भाषा भी सिखला दी।

पुस्तककार का मत है कि—"ज्ञान की सीमा बहुत लम्बी चौड़ी है, तथापि हम ज्ञान के सबसे बड़े छः विभाग करते हैं"। वे विभाग, कुछ कुछ ग्रन्थकार ही के शब्दों में, ये हैं—

(१) ज्योतिष और भूगोल-शास्त्र।

(२) वैद्यक-शास्त्र।

(३) राजनीति और समाज-नीति।

(४) धर्म-शास्त्र।

(५) रङ्ग और मणि-मुक्ता तथा नौका-शास्त्र।

(६) जीव, ब्रह्म, प्रकृति, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नर्क (नरक), मोक्ष आदि और योगादि गुप्त-क्रियाओं और शक्तियों का शास्त्र।

यह सारा शास्त्रज्ञान ईश्वर ही की कृपा से आर्यों के आदिम पूर्वजों को मिला और उन्हीं के जन्मस्थान से अन्यत्र फैला। आपका मत है कि "उक्त समस्त विद्यायें आर्यों ही की 'आविष्कार' की हुई हैं"। इससे—"यह बात निर्विवाद है कि जगत् भर की भाषा आर्यों ही की भाषा का अपभ्रंश है, क्योंकि विद्या बिना

भाषा अर्थात् ज्ञान, (अर्थ) बिना शब्द के दूर देश जा ही नहीं सकता "।

यह ज्ञान-राशि प्राचीन ऋषियों ने वेदों से प्राप्त की। "अतएव समस्त ज्ञान का उद्गम वेद है "।

यह ज्ञान अन्य देशों में किस तरह पहुँचा, इसका उत्तर अक्षर-विज्ञान के कर्ता इस तरह देते हैं—

"आर्यावर्त के ज्ञान के साथ अर्थात् वेदों के ज्ञान के साथ, वेदों की भाषा में ही बन्द होकर वह दुनिया में फैला और आर्यावर्त की ही भाषा सारे संसार में फैली है"।

इसके आगे आपने अरबी, फ़ारसी, ज़ेन्द, अँगरेज़ी, चीना, जापानी और द्राविड़ आदि भाषाओं के शब्दों की सूचियाँ देकर यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि हज़ारों वर्ष बीत जाने पर भी इन भाषाओं में अब भी सैकड़ों शब्द ऐसे वर्तमान हैं जो वैदिक संस्कृत-भाषा ही के अपभ्रंश हैं। मतलब यह कि सृष्टि के आदि में वैदिक-भाषा ही प्रचलित थी। वही धीरे धीरे अन्य देशों में भी फैल गई और कालान्तर में अपभ्रष्ट होकर उसने नये नये रूप धारण कर लिये। यह सब तो ठीक। इसके प्रमाण भी आपने बहुत दिये। पर एक बात के प्रमाण आपने काफ़ी नहीं दिये। आपकी जो यह सम्मति है कि ईश्वर ही की कृपा से, वेदों के द्वारा, हमारे पूर्वजों को समस्त ज्ञान-राशि का ज्ञान हुआ, सो इसकी पुष्टि में भी दस बीस प्रमाण आपको देने थे। आपकी इस विषय की उक्तियाँ सुनकर हमें हरविलास महाशय की "हिन्दू सुपीरियारिटी" और काँगड़ी के गुरुकुल से निकले हुए भारतवर्ष के एक इतिहास का स्मरण हो आया। साथ ही वेदों को ज्ञानकाण्ड का आकर बतानेवाले स्वामी

दयानन्द सरस्वती और उनके अनुयायियों की भी बात याद आ गई। हमारी क्षुद्र बुद्धि में ऐसी ऐसी बे-रोक और सर्वव्यापिनी उक्तियों से बड़ी हानि हो सकती है। इससे वेदों का यथार्थ भाव न समझनेवाले महाशयों की बुद्धि और विचार यदि भ्रम से आच्छन्न हो जायँ तो कुछ आश्चर्य्य नहीं। हम वेदों के अच्छे ज्ञाता नहीं। परन्तु अक्षर-विज्ञान के लेखक उनके पूर्णज्ञाता मालूम होते हैं। उनकी उक्तियों से यही मालूम होता है। अतएव उनको उचित था कि वेदों में समस्त ज्ञान भरे रहने के वे प्रमाण देते। प्रमाण द्वारा उन्हें सिद्ध करना था कि अमुक वेद के अमुक मन्त्र में यह ज्ञान है और अमुक में यह। उदाहरण के लिए "अग्निमीड़े पुरोहितं—" ऋग्वेद के इस पहले ही मन्त्र को देकर उन्हें बतलाना चाहिए था कि इसके द्वारा अमुक विद्या या शास्त्र के अमुक अंश के ज्ञान का उल्लेख है। ऐसा करने ही से आपके कथन पर समझदार आदमियों की श्रद्धा होने की सम्भावना थी। इस विज्ञान के ज़माने में—जब सैकड़ों-हज़ारों प्रकार के नये नये ज्ञानों और विज्ञानों का आविष्कार हो रहा है—कथनमात्र से संशयालु लोगों को विश्वास नहीं हो सकता कि वेदों के मन्त्ररूपी संदूकों में सारे ज्ञान और विज्ञान बन्द पड़े हैं। लेखक महाशय की राय है कि सृष्टि के आरम्भ में हमारे सबसे पहले पूर्वजों को, वेदों की भाषा भी सिखला कर ईश्वर ने उन्हें पैदा किया। परन्तु कृष्णयजुर्वेद (का० ६ प्र० ४) में—

"वाग् वै पराची अव्याकृता अवदत्"—

इत्यादि लिखा है। टीकाकारों के मत से इससे तो यह अर्थ निकलता है कि पुरानी वाणी अव्याकृत अर्थात् अव्यक्त थी। इन्द्र आदि के द्वारा उसका धीरे धीरे विकाश हुआ। मतलब यह कि आदि में लोगों को सार्थक वाणी या शब्द बोलना आता ही न

था। अतएव लेखक को वेद के इन वचनों की भी सङ्गति लगानी चाहिए।

भाषा के सम्बन्ध में लेखक महाशय ने अपने विचारों का सार, पुस्तक के दूसरे प्रकरण के अन्त में, इस प्रकार दिया है—

"वेद-भाषा मनुष्य-कृत नहीं है, क्योंकि मनुष्य कृत वस्तु कृत्रिम होती है। वह नेचुरल अर्थात् स्वाभाविक नहीं होती। किन्तु वेद-भाषा स्वाभाविक अर्थात् सृष्टि-क्रमानुकूल है। अतः वह मनुष्य-कृत नहीं है और न किसी का अपभ्रंश अथवा शाखा है। जो मनुष्य-कृत नहीं वह ईश्वरकृत है, अतः वेद-भाषा आदि-सृष्टि में ईश्वरदत्त वैज्ञानिक मूलभाषा है"।

सम्भव है, आपका यह सब कथन ठीक हो। सम्भव है, वेदों की भाषा ईश्वर ही की दी या बनाई हुई हो और साथ ही वह वैज्ञानिक भी हो। परन्तु ऊपर के उद्धृतांश में कहे गये आपके न्याय या अनुमान-वाक्य और उनका निगमन सुन कर न्यायशास्त्री ज़रूर विस्मित होंगे। गङ्गा हमारे सामने से बही चली जा रही है; वह मनुष्य-कृत नहीं। अतएव ईश्वर-कृत है। हमारे पड़ोस में सैकड़ों बीघे ऊसर ज़मीन पड़ी है। वह मनुष्य-कृत नहीं। अतएव ईश्वर-कृत है! आपका तर्क और उसका निगमन इसी कोटि का है।

पुस्तक के तीसरे प्रकरण में लेखक महाशय ने लिखा है— "वेद-भाषा स्वाभाविक (क़ुदरती) है। उसका एक एक शब्द वैज्ञानिक रीति से बनाया गया है। हरएक शब्द जिन अक्षरों से बना है वे स्वयं विज्ञानमय और प्रत्येक अपना अपना स्वाभाविक (क़ुदरती) अर्थ रखनेवाले हैं। इस बात का प्रमाण हमें दो प्रकार से मिलता है। एक तो प्रत्येक अक्षर के अर्थ से, दूसरे उन

अक्षरों को लिखने के लिए जो सांकेतिक चिन्ह बनाये गये हैं उनकी सूरतों और बनावटों से"।

इसके बाद आपने लिखा है कि भारत के प्राचीन निवासियों को लिपि-ज्ञान लाखों वर्षों से था। सूर्यसिद्धान्त के—"कल्पाद्-स्माच्च मनवः षड् व्यतीताः ससन्धयः" आदि दो श्लोक उद्धृत करके आपने इस सिद्धान्त के बनने का समय इक्कीस लाख पैंसठ हज़ार वर्ष पूर्व बतलाया है !!! फिर आपने यह सम्मति दी है कि यहाँ की लिपि यहीं आविष्कृत हुई थी। कई वर्ष पूर्व, "बार्हस्पत्य" जी ने अपने एक लेख में देवनागरी लिपि की परिणाम-दर्शक वर्णमाला का नक़शा प्रकाशित कराया था। इसी नक़शे को अक्षर-विज्ञान के कर्ता ने अपनी पुस्तक में देकर हमारी वर्तमान वर्णमाला के रूपान्तर दिखाये हैं।

पुस्तक-प्रणेता महोदय की राय है कि हमारी लिपि की उद्भावना का कारण ज्योतिषशास्त्र है। इस शास्त्र के साध्यों को सिद्ध करने के लिए तीन प्रकार के चिन्हों की आवश्यकता होती है—संख्या-सम्बन्धी, दिक्सम्बन्धी और संज्ञा-सम्बन्धी।

इन तीनों चिन्हों का नाम अङ्क, रेखा और बीज पड़ा। एक, दो आदि संख्यायें सूचित करानेवाले चिन्हों का नाम अङ्क; ऊपर, नीचे, सीधे, टेढ़े, गोल, त्रिकोण सूचित करानेवाले चिन्हों का नाम रेखा; और जिसको अङ्क तथा रेखा में बताया जाता है उस में, तुम, सूर्य, चन्द्र आदि के चिन्हों का नाम बीज है। × × × संसार में जितनी संज्ञा (संज्ञायें) हैं, बीजाक्षरों से लिखी जाती हैं। तात्पर्य यह कि लिपि की उत्पत्ति का कारण ज्योतिष है"।

"यद्यपि मूल-लिपि के असली रूप अब नहीं मिलते, किन्तु उनके अस्थिपञ्जरों से मूल-रूप का अनुसन्धान हो सकता है। अनुसन्धान करने के लिए अक्षरों के साथ ही पैदा होनेवाले अङ्क और रेखा (यें) हमें सुगम रास्ता बता रहे (रही) हैं, उसी मार्ग से हम उनके असली रूप तक पहुँच सकते हैं"।

इसके आगे लेखक ने अपने कल्पित बीजों, अङ्कों और रेखाओं के मूल-चिन्हों के चित्र दिये हैं।

देवनागरी अक्षरों के सम्बन्ध में इस पुस्तक के प्रणेता का वक्तव्य उन्हीं के मुँह से सुनिए—

"एक एक परमाणु से पृथ्वी बनी है। अतः पृथ्वी में वही गुण हैं जो परमाणुओं में थे। भाषा-रूप पृथ्वी भी अक्षर-रूप परमाणु से बनी है। अक्षर शब्द के उस टुकड़े को कहते हैं जिसका फिर टुकड़ा न हो सके × × × × भाषा उत्पन्न होने के पूर्व उसके कारणरूप अक्षर आकाश में विद्यमान थे क्योंकि आकाश अक्षरों (शब्दों) का कारण है। अक्षरों के ही योग से धातु और धातुओं से शब्द और वाक्य बनते हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये सार्थक हैं"।

"आकाश का गुण शब्द है, जो आकार रूप से नित्य व्याप्त रहता है, किन्तु ऊँच नीच भाव से उसके सात भाग हैं, जिन्हें स्वर (अर्थात् स रि ग म प ध नी) कहते हैं। उसी शब्द के स्थान-प्रयत्न-भेद से १६ विभाग और हैं, जिनको अक्षर कहते हैं। इन्हीं १६ के सङ्कर-संयोग से ६२ या ६३ या ६४ अथवा और अनेक अक्षर बन जाते हैं। यही १६ अपने विकृत रूप से संसार भर में व्याप्त पाये जाते हैं। × × × × जितना शब्द समूह है, चाहे प्राणियों की भाषा में हो या बाह्यध्वनि में, सब मूल-अक्षरों के

अन्तर्गत हैं। कोई भी शब्द तोड़ो और जोड़ो, उन्हीं मूल-अक्षरों को पाओगे। बस उनके ही संयम से, सृष्टि-नियम के अनुसार, विज्ञान के अनुसार, समस्त शब्दों का क़ुदरती ज्ञान प्राप्त होगा"।

"बच्चे मा को 'मा' और पानी को 'पा' आदि कहते हैं। इन शब्दों का जब विज्ञान द्वारा अर्थ जाँचा जाता है तो 'माता' और 'पानी' ही होता है"।

अक्षरों का कभी नाश नहीं होता। वे आकाश में व्याप्त रहते हैं। वे विज्ञानमय हैं। उनका ज्ञान, सृष्टि के आदि में, हमारे पूर्व-पुरुषों को ईश्वर की कृपा ही से हो गया। यह सब तो हुआ। परन्तु 'मा' का वैज्ञानिक अर्थ माता ही होता है और 'पा' का पानी ही, इसका विवेचन भी तो करना था। लेखक को यह बात प्रमाणपूर्वक सिद्ध करके दिखानी थी। परन्तु आपने नहीं सिद्ध की। यदि आपका कथन ठीक है तो हमारे बच्चों की तरह अँगरेज़ों, चीनियों, जापानियों और अरबवालों के बच्चे भी क्या आपके कल्पित अर्थों में 'मा' और 'पा' का प्रयोग करते हैं? यदि नहीं, तो इस व्यभिचार का कारण क्या? विज्ञान तो सब देशों और सब जातियों के लिए एक ही रूप में रहता है। फिर यदि आपके बतलाए हुए नियम में कहीं विपरीत-भाव देख पड़े तो उसका कारण क्या? लेखक ने अक्षरार्थ और धात्वर्थ के जो थोड़े से नमूने पुस्तकान्त में दिये हैं उनमें पा—का अर्थ 'रक्षा करना' और मा—का 'मापना' है। पानी से बच्चे की रक्षा होती है, इससे यदि उसका वैज्ञानिक उच्चारण 'पा' माना जाय तो दूध के विषय में लेखक की क्या राय है? जन्मोत्तर वर्ष डेढ़ वर्ष तक तो बच्चे की रक्षा पानी से कम, दूध से ही अधिक होती है। फिर यदि मा—का अर्थ 'मापना' है तो यह अर्थ माता में किस तरह घटित हो सकता है?

अस्तु। अब अक्षरों के बीजों के विषय में लेखक महाशय का तर्कवाद सुनिए—

"अ, इस ध्वनि के बोलने के वक्त जिह्वा सम और मुख चारों ओर से एक समान खुला हुआ रहता है। मुख-मार्ग से अकाररूपी ध्वनि मूल तालू से लेकर बाहर तक आ ३......करती हुई।" इस आकार की होकर निकलती है। यह चिन्ह अकार शब्द (वर्ण ?) का निर्भ्रान्त रूप है।"

इसीसे अपनी बीज-माला में लेखक महाशय ने अकार का पूर्वोक्त ही रूप रक्खा है। यहाँ पर प्रश्न यह है कि ध्वनियों के आकार-विशेष का ज्ञान आपको हुआ कैसे ? यह आपने जाना कैसे कि अकार के उच्चारण की ध्वनि का रूप वैसा ही होता है जैसा आपने समझा है ? किस नियम से अथवा किस यन्त्र की सहायता से आपको उसके आकार या रूप का ज्ञान हुआ ? विज्ञान सदा सच्चा होता है। उसके नियम निर्दिष्ट होते हैं। वे जाँचे जा सकते हैं। आपने स्वरों और व्यञ्जनों के ये जो टेढ़े मेढ़े बीज़ बनाये हैं उनकी सत्यता की जाँच कैसे की जाय ? आपने संख्या-सूचक १ का बीज तो ० । बताया, २ का = क्यों ? २ का बीज ॥ क्यों न माना जाय ? इसी तरह और भी समझिए।

इस अक्षर-विज्ञान नामक पुस्तक के तीसरे ही प्रकरण में पुस्तक के प्रधान विषय का वर्णन है। परन्तु इसी विषय के विवेचन का सङ्कोच कर दिया गया है। जो विषय गौण हैं उनके प्रतिपादन में अकारण ही विस्तार किया गया है। लेखक महाशय को प्रधान विषय के विवेचन में कमी न करना था। ख़ैर, कमी की थी तो अपने कथन की पुष्टि में कुछ न्यायसङ्गत युक्तियाँ और प्रमाण तो अवश्य ही दे देने थे। इन बातों के अभाव में आपके अक्षर-विषयक

वक्तव्य बहुत ही निर्बल हो गये हैं। उनका स्वीकार करने में हृदय गवाही नहीं देता। आपकी युक्तियों से अधिक बलवती तो बाबू जगन्मोहन वर्मा की युक्तियाँ हैं, जिनके अशोक-लिपि-विषयक कितने ही लेख सरस्वती में निकल चुके हैं। लेखक महाशय की उक्तियों से तो बहुत लोगों को श्रीयुत श्यामशास्त्री जी की उक्तियाँ ही विशेष मनोग्राह्य मालूम होंगी। इस स्पष्टोक्ति के लिए, आशा है, लेखक हमें क्षमा करेंगे।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि अक्षर-विज्ञान के कर्ता ने अपने विषय का विशेष मनन किया है। उनकी विद्याभिरुचि और गवेषणा-शक्ति सर्वथा प्रशंसनीय है। उन्होंने यह पुस्तक लिख कर अपनी योग्यता और चिन्ता-शीलता का अच्छा परिचय दिया है। इस कारण हम साधुवाद से आपका पुनर्वार अभिनन्दन करते हैं। हमारी प्रार्थना है कि देवनागरी की उत्पत्ति और विकास का सविशेष ज्ञान रखनेवाले विद्वान् आपकी पुस्तक को मनोनिवेश पूर्वक पढ़ें और आपकी उक्तियों पर विचार करके अपनी सम्मति प्रकट करने की कृपा करें।

[अगस्त १९१४]

ओंकार-महिमा-प्रकाश

[१२]

रतलाम-निवासी पण्डित श्रीनिवास महादेव शर्म्मा ने इसकी रचना की है। इसमें ऊँकार की महिमा का वर्णन है। दिखलाया गया है कि संसार में जो कुछ है सो ऊँ ही है। इसीसे ब्रह्माण्ड के समस्त पदार्थ उत्पन्न हुए हैं। ऊँ जिस परब्रह्म परमात्मा का वाचक है उससे नहीं; किन्तु नागरी लिपिमें लिखे हुए 'ऊँ' शब्द से। इस शब्द से इतना बड़ा ब्रह्माण्ड और उसके अनन्त पदार्थ कब और किस तरह उत्पन्न हुए—इसका आपने विवेचन नहीं किया। केवल इतना ही नहीं, आपने यह भी दिखलाया है कि संसार की सारी लिपियां ऊँ ही से बनी हैं। इनमें अँगरेज़ी, फ़ारसी, गुज़राती और नागरी अक्षर ऊँ से किस तरह बने हैं, इसके नमूने भी आपने दिये हैं। पर जैसे ऊँ शब्द के आठ टुकड़ों से सब अक्षर निकले हुए आपने बताये हैं वैसे ही किसी अन्य शब्द के उन्हीं आठ या न्यूनाधिक टेढ़े मेढ़े टुकड़ों से दुनिया की सब लिपियाँ निकली हुई सिद्ध करदी जाँय तो? पर कितने आदमी ऐसे हैं जो इस बात को मान लें?

लेखक के कथनानुसार इस पुस्तक से दो लाभ हो सकते हैं। एक तो यह कि इसके पढ़ने से लोगों का विश्वास सनातन-धर्म पर जम जायगा और उनके मन में धर्माङ्कुर उत्पन्न होगा। दूसरा यह कि इसके द्वारा बालक वर्णमाला लिखना पढ़ना सुगमता से सीख सकेंगे। पहले लाभ के विषय में यह वक्तव्य है कि सिर्फ इतना कह देने से कि—ए, बी, सी, डी, और अलिफ़, बे आदि ऊँ ही से उत्पन्न हुए हैं—लोगों के मन में धर्माङ्कुर कैसे उत्पन्न हो सकता है? जो लोग ऐसी बातों पर पहले ही से विश्वास रखते

हैं उनके लिए तो यह है ही नहीं, पर जो इन बातों को नहीं मानते वे, इस बीसवीं शताब्दी में, ऐसे युक्तिवाद पर कैसे विश्वास कर सकते हैं? रहा दूसरा लाभ; सो लड़के भी इससे कोई विशेष लाभ नहीं उठा सकते। कारण यह कि पुस्तक के प्रथमार्ध में एक तो निरी संस्कृत ही भरी है, और जो थोड़ी बहुत हिन्दी है उसकी भाषा इतनी क्लिष्ट, अशुद्ध और मुहावरे के विरुद्ध है, तथा उसके विचार इतना बे-सिलसिले हैं, कि बालकों के लिए उसका समझना प्रायः असम्भव है। रही वर्णमाला की सूची, सो उसमें कोई विशेषता नहीं। ऐसी बहुत सी प्राइमरें बन गई हैं, जिनके द्वारा लड़के अक्षरों को इस पुस्तक की अपेक्षा कहीं अधिक सरलता, सुगमता और मनबहलाव के साथ सीख सकते हैं।

साधारण दृष्टि से पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ जाने पर लोग यही समझेंगे कि इसमें जितनी बातें लिखी हैं उन्हें लेखक ने अपनी ही बुद्धि के बल से लिखा है। अथवा यों कहिए कि इसके पहले किसी मनुष्य के हृदय में ऊँकार की ऐसी अलौकिक महिमा का ज्ञान कभी नहीं उत्पन्न हुआ। यदि हुआ भी हो तो उसे उसने क़लमबन्द नहीं किया। अर्थात् पण्डित श्रीनिवास जी ही पहले मनुष्य हैं जिन्हें यह ज्ञान उत्पन्न हुआ कि देवनागरी आदि समस्त लिपियाँ ऊँकार ही से उत्पन्न हुई हैं। पर यह बात नहीं। इसके पहले भी ग्वालियर-निवासी श्रीयुक्त रामराव कृष्ण जटार ऊँकार की महिमा प्रकाशित कर चुके हैं। उन्होंने अव्यक्त-बोध नाम की, मराठी भाषा में, एक पुस्तक लिखी है। उस में उन्होंने, १८९६ ईसवी में, वही बातें लिखी थीं जिन्हें अब बारह वर्ष पीछे इस पुस्तक के कर्त्ता ने लिखा है। जान पड़ता है, यह पुस्तक अव्यक्त-बोध के तीसरे प्रकरण (२९--४४ पृष्ठ) के आधार पर लिखी गई है। यह बात इसके प्रत्येक पृष्ठ से झलकती है। इसका सब से

बड़ा सबूत यह है कि अव्यक्तबोध के कर्त्ता ने ऊँ के जिस आकार-प्रकार के आठ टुकड़ों से लिपियों और चराचर की उत्पत्ति की कल्पना की है ठीक उसी आकार-प्रकार के आठ टुकड़ों से इस पुस्तक के लेखक ने भी लिपियों आदि का निकलना बतलाया है। टुकड़ों पर पड़ी हुई संख्यायें सिर्फ बदल दी गई हैं। उदाहरणार्थ अव्यक्तबोध का एक नम्बर का टुकड़ा ऊँकार-महिमा-प्रकाश में आठ नम्बर का टुकड़ा हो गया है। इसी तरह और भी समझिए। इस पुस्तक में अव्यक्तबोध की अपेक्षा एक बात अधिक है। अर्थात् अव्यक्तबोध में सिर्फ देवनागरी अक्षरों ही के चित्रपट दिये गये हैं; पर इसमें नागरी के सिवा गुजराती, उर्दू और अँगरेजी के भी हैं। किन्तु एक बात कम भी है। ऊँकार से मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि कैसे बने हैं—इस के चित्र भी अव्यक्तबोध में दिये गये हैं, जो इस पुस्तक में नहीं हैं।

संभव है, पण्डित श्रीनिवास शर्म्मा ने अव्यक्तबोध न देखा हो। जो कुछ उन्होंने अपनी पुस्तक में लिखा है वह उनकी निज की सूझ हो। एक ही बात दो आदमियों को भिन्न भिन्न समय में सूझ सकती है। पर दोनों पुस्तकों में जो समानता हमें देख पड़ी वह हमने लिख दी। इसके लिए पुस्तक-कर्त्ता कृपा करके हमें क्षमा करें।

[जुलाई १९०८]

माथुर जी का रामायण-ज्ञान

[१३]

छः वर्ष से कायस्थ-समाचार नामक एक मासिक पुस्तक, अंगरेज़ी में, प्रयाग से, निकलती है। यह उत्तम पुस्तक है। इसमें बहुत उपयोगी और मनोरञ्जक लेख रहते हैं। इस पुस्तक के मार्च वाले नम्बर में लाला हरदयाल (?) माथुर का लिखा हुआ एक लेख निकला है। इस लेख का नाम "देशी भाषायें और हमारा कर्तव्य है"। लाला साहब ने देशी भाषाओं की शोचनीय अवस्था पर खेद प्रकट किया है और इन प्रान्तों के विद्वानों को हिन्दी में लेख और पुस्तकें लिखने के लिए सलाह दी है। इसके लिए हम माथुर महाशय के परम कृतज्ञ हैं। जब तक अंगरेज़ी के पदवीधारी पण्डित हिन्दी पर कृपा न करेंगे तब तक उसकी उन्नति न होगी। उनको जगाने के लिए अँगरेज़ी में ऐसे ऐसे लेखों की बड़ी ही आवश्यकता है। जहाँ तक हम जानते हैं, माथुर महाशय ने भी हिन्दी पर अब तक कृपा नहीं की। उनका कोई लेख हमारे देखने में नहीं आया। इसलिए दूसरों को मार्ग दिखलाने के लिए, हम उनसे प्रार्थना करते हैं कि वही पहले हिन्दी में "श्रीगणेशाय नमः" करें। उनके लेख का दर्शन करने के लिए हम उत्सुक हो रहे हैं।

माथुर महाशय हिन्दी के पक्षपाती हैं। इसलिए हम उनको हृदय से धन्यवाद देते हैं। परन्तु, जान पड़ता है, हिन्दी के पक्षपाती होकर भी वे हिन्दी बहुत ही कम जानते हैं। तथापि आपने हिन्दी-साहित्य के दोष दिखलाये हैं; संस्कृत-साहित्य के दोष दिखलाये हैं; और तुलसीदास की रामायण पर तो बहुत ही बड़े बड़े कटाक्ष किये हैं। चूँकि, जान पड़ता है, वे हिन्दी और संस्कृत-साहित्य

का बहुत ही कम ज्ञान रखते हैं, अतएव उनको इस विषय में कुछ कहने का विशेष अधिकार न था। अनधिकारी पुरुष की बातों का सविस्तर उत्तर देने की आवश्यकता भी नहीं। अतएव हम उनकी दो ही एक बातों की आलोचना करेंगे।

माथुर महाशय कहते हैं—

Fiction as a branch of literature was unknown to the ancient Hindus.

अर्थात् प्राचीन हिन्दू काल्पनिक साहित्य (उपन्यास आदि) को जानते ही न थे।

मिस्टर दत्त लिखते हैं—

India was not better known to the ancient nations for her science and poetry than as the birth-place of the fables and fiction.

इसका भावार्थ यह है कि प्राचीन जातियाँ हिन्दुस्तान को काल्पनिक कथाओं और काल्पनिक साहित्य की जन्मभूमि समझती थीं। काल्पनिक साहित्य की अपेक्षा काव्य और विज्ञान के सम्बन्ध में वे इस देश से अधिक परिचित न थीं।

माथुर महाशय को जानना चाहिए कि १२०० वर्ष की पुरानी कादम्बरी, वासवदत्ता और दशकुमारचरित आदि पुस्तकें काल्पनिक साहित्य ही में गिनी जाती हैं। कथासरित्सागर की प्राचीनता का तो ठिकाना ही नहीं; परन्तु उसे वे शायद फेबल्स (Fables) मिथ्या कथा समझें; फिक्सन (Fiction) उपन्यास न मानें। इसलिए हमने उसे उपन्यासों में नहीं गिना।

तुलसीदास की रामायण को आप "Universally admired but little read" कहते हैं। आपके मत में रामायण को सब

कोई आश्चर्य की दृष्टि से देखते तो हैं; परन्तु पढ़ते कम हैं। उसे आश्चर्य की दृष्टि से देख कर भी, उसकी प्रशंसा करके भी, मनुष्य कम पढ़ते हैं! हमारी प्रार्थना यह है कि यदि कोई हिन्दी की पुस्तक सब कहीं पढ़ी जाती है तो वह रामायण ही है। स्त्री-पुरुष, लड़के-लड़कियाँ, युवा-जरठ सभी रामायण पढ़ते हैं। झोपड़ियों और महलों में, दूकानों और पलटनों में, रामायण का सब कहीं आदर है। आदर है कहाँ नहीं? केवल अंगरेजी के विद्वानों के घर! जो कोई यह कहता है कि रामायण कम पढ़ी जाती है वह अपनी अनभिज्ञता की पराकाष्ठा दिखलाता है।

माथुर महाशय कहते हैं कि रामायण में सुन्दर भाव नहीं; मनुष्यों के और घटनाओं के चमत्कारकारी वर्णन नहीं; मानवी स्वभाव के उच्च आशय नहीं; प्राकृतिक शोभा और प्रसिद्ध स्थलों के हृदयहारी वर्णन-वैचित्र्य नहीं। यह कुछ भी नहीं है, तो फिर है क्या खाक! आपने तुलसीदास और सूरदास को ज़ौक़ और ग़ालिब से हीन माना है! मानिए। आप हिन्दी के हितचिन्तक हैं। इसलिए हम आपसे विवाद नहीं करना चाहते। परन्तु जिस बात को आप जानते नहीं उस पर आपको क़लम उठानी ही न चाहिए। आपके लिखने से जान पड़ता है आपने रामायण को पढ़ा नहीं, तो दूसरे के मुख से सुना तक भी नहीं। रायल एशियाटिक सोसाइटी के सामने जिस रामायण की डाक्टर ग्रियर्सन ने, अभी कल, इतनी प्रशंसा की, उसे मिट्टी मोल बतलाने में आपने बड़ा साहस किया है। आपको अनधिकार चर्चा न करनी चाहिए। सीता, लक्ष्मण, भरत और दशरथ आदि का रामायण में जो वर्णन है वह क्या मनुष्य के स्वभाव का बहुत ही अच्छा चित्र नहीं? शरद, वर्षा और वसन्त आदि का जो वर्णन है उसे आप क्या समझते हैं? प्राकृतिक शोभा का क्या वह एक सजीव वर्णन नहीं?

भरत, केवट और अनसूया की उक्तियों में क्या आपको कोई सुन्दर भाव नहीं मिले ? लङ्का और मिथिलापुरी का वर्णन भी क्या आप स्थल-वर्णन में नहीं गिनते ? धनुषयज्ञ, सीताहरण, अङ्गद और हनूमान का लङ्कागमन आदि घटनाओं का वर्णन भी आप हृदय-हारी नहीं समझते ? हम यही कहेंगे कि आपने रामायण को नहीं पढ़ा। यदि पढ़ते अथवा समझते तो कभी आप ऐसा न कहते।

[जून १९०३]

उर्दू-शतक

[१४]

हिन्दी-भाषा के एक बड़े भारी छन्दःशास्त्री का मत है कि उनके बनाये हुए छन्दोग्रन्थ में यदि सब लोग पारङ्गत हो जायँ तो भारतवर्ष में गाँव गाँव, गली गली, कवियों की वैसी ही बहुलता हो जाय जैसे नदियों में कंकड़ों की और काशी में शङ्करों की बहुलता है। कहने की ज़रूरत नहीं, यह मत बिल्कुल ही निस्सार है। छन्दों के रूप जान लेने, "यमनसभलागः शिखरिणी" घोखने, अथवा "वरा सा श्री श्रीं स्त्री न हस वसुधा किम्बद लगा" करने, से कोई कवि नहीं हो सकता। प्रस्तार-पारिजात पढ़ने और छन्दोर्णव पिङ्गल रटने से कवित्व शक्ति नहीं उत्पन्न हो सकती। छन्दः-शास्त्र कवि को छन्दों का लक्षणमात्र बतलाता है। वह छन्दोरचना की रीति मात्र का प्रदर्शक है। बस। कवि होने के लिए अनेक बातें दरकार होती हैं। सौभाग्य से जिसे वे प्राप्त हो जाती हैं वह लाखों में कहीं एक, कवि की पदवी को पहुँच सकता है। हमने हिन्दी और संस्कृत के, न मालूम, कितने छन्दोग्रन्थों की सैर कर डाली। यहाँ तक कि छन्दों किंवा वृत्तों के समालोचनरूपी, क्षेमेन्द्र आदिकृत, अनेक ग्रन्थ भी पढ़ डाले। पर कवि न हुए। कविता के नाम से पद्य-रचना करना एक बात है, कवि होना दूसरी बात है।

इसी तरह किसी किसी का ख़याल है कि हिन्दी में वैज्ञानिक डिक्शनरी हो जाने से वैज्ञानिक ग्रन्थ गली गली मारे मारे फिरेंगे। हम कहते हैं, यह कल्पना भी ग़लत है। इस तरह की डिक्शनरियों से अँगरेज़ी-भाषा के वैज्ञानिक ग्रन्थों का अनुवाद करने में सिर्फ़ कुछ सहायता मिल सकती है। और कुछ नहीं। जब किसी भाषा

की उन्नति होने लगती है, और विद्वान् लेखक ग्रन्थ लिख लिख कर उसके साहित्य की पूर्त्ति करने लगते हैं, तब वैज्ञानिक ग्रन्थ भी बन जाते हैं। बँगला, मराठी और गुजराती में कितने वैज्ञानिक कोश हैं? पर आप मेडिकल लाइब्रेरी, कलकत्ता और गवर्नमेंट सेन्ट्रल बुकडिपो बम्बई, की पुस्तकों का सूचीपत्र उठा कर देखिए। आपको वैज्ञानिक विषयों पर यदि अधिक नहीं तो दस बीस पुस्तकें तो ज़रूर ही, इन्हीं दो दुकानों में, मिल जायँगी। हमारी हिन्दी इस विषय में विशेष सौभाग्यशालिनी है; क्योंकि उसमें एक वैज्ञानिक कोश भी बन गया है। परन्तु आप देखते रहिए, इसकी सहायता से कितनी वैज्ञानिक पुस्तकें तैयार होती हैं। कोई वैज्ञानिक पुस्तक लिखने या किसी का अनुवाद करने के लिए कई प्रकार की योग्यता दरकार होती है। जिसमें वैसी योग्यता है उसका काम बिना वैज्ञानिक डिक्शनरी के भी चल सकता है; परन्तु यदि वह नहीं है तो हज़ार डिक्शनरियों के होने पर भी न तो कोई वैज्ञानिक ग्रन्थ लिख ही सकता है और न उसका अनुवाद ही कर सकता है।

कुछ लोगों का ख़याल है कि अच्छी हिन्दी-कविता यदि किसी भाषा या बोली में हो सकती है तो ब्रजभाषा में हो सकती है। यह भी उसी तरह की बात है जिस तरह की दो बातों का उल्लेख हमने ऊपर किया। हमारी तुच्छ राय तो यह है कि कविता के लिए भाषा बहुत ही गौण साधन है। जिन गुणों के कारण पद्य-रचना "कविता" में परिगणित हो सकती है वे गुण जिस व्यक्ति में नहीं हैं वह चाहे ब्रजभाषा का कितना ही प्रचण्ड पण्डित क्यों न हो, और वह चाहे कितने ही परिश्रम से ब्रजभाषा में कविता क्यों न करे, उसकी कविता का कदापि आदर न होगा। उसकी रचना कविता के स्वाभाविक और सर्वश्रेष्ठ गुणों से कभी विभूषित

न होगी। कविता पढ़ते समय पढ़नेवाला यदि तद्गत रस में डूब न गया तो वह कविता कविता नहीं। और यह बात क्या अकेली ब्रज-भाषा ही ने अपने हिस्से में ले ली है? भाषा कोई क्यों न हो, यदि कवि अच्छा है, तो उसकी कविता अवश्यमेव सरस होगी। इसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण आज हमें मिला है। यह प्रमाण उर्दू शतक नाम की एक छोटी सी पुस्तक है।

उर्दू शतक में १०० पद्य हैं। छन्द हैं—घनाक्षरी और सवैया। भाषा बिलकुल उर्दू है। उर्दू नहीं कठिन उर्दू; बल्कि यों कहना चाहिए फ़ारसी-मिश्रित उर्दू। इसे रीवा-निवासी किसी रामानन्द नामक कवि ने बनाया है और बनारस के लहरी प्रेस ने छाप कर प्रकाशित किया है। इस काव्य की एक कापी भेजने के लिए हम लहरी प्रेस के मैनेजर के बहुत कृतज्ञ हैं। इसकी कविता शृङ्गाररस की है। परन्तु हमें इसके अनेक पद्यों ने मोहित कर दिया। कवि ने किसी किसी पद्य को इतना सरस बना दिया है कि आप चाहें जितनी दफ़े उसे पढ़िए कभी आपका जी न ऊबेगा। फिर भी उसे पढ़ने की इच्छा होगी। रमणीक और सरस कविता की यही कसौटी है—

क्षणं क्षणं यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

जो लोग बोल-चाल की भाषा में कविता के विरोधी हैं उन्हें इस काव्य को कृपा करके ज़रूर पढ़ना चाहिए और विचार करना चाहिए कि हिन्दी के बहुप्रयुक्त घनाक्षरी और सवैया छन्द में यदि क्लिष्ट उर्दू भाषा में भी पद्यरचना करने से कविता सरस हो सकती है, तो मामूली बोल-चाल की भाषा में यदि कोई पद्य-रचना करे तो उसका विरोध करना कहाँ तक न्याय है? बात यह है कि कवि अच्छा होना चाहिए। यदि कवि अच्छा है

तो हिन्दी, उर्दू, फ़ारसी, अँगरेज़ी आदि जिस भाषा में वह परिश्रम करेगा उसी में वह उत्तम कविता लिख सकेगा। उर्दू-शतक की उत्कृष्ट कविता के कुछ नमूने हम नीचे देते हैं। पर एक बात हम कहना चाहते हैं। वह यह कि इस कविता में फ़ारसी के कोई कोई क्लिष्ट शब्द आ गये हैं। अतएव जो लोग उनका अर्थ न जानते होंगे उनको, सम्भव है, यह कविता रोचक न लगे। परन्तु इससे कविता की उत्तमता कम नहीं हो सकती।

घनाक्षरी

एक परचे से परचाया न हुज़ूर हमें,
हम ग़म खाया किसे ऐसी बेबसाई में।
शाहिद हमारे चश्म तर ये रहेंगे ख़ूब,
दरिया बहाते थे जो दुनिया हँसाई में॥
रामानन्द तेरा था भरोसा बहुतेरा तूने,
ऐसा मुँह फेरा है हिनोज़ बेवफ़ाई में।
सीना में पसीना कहीं ज़हर न पीना पड़े,
जीना दुश्वार है जनाब की जुदाई में॥ १६॥

क़हर ख़ुदा है ज़रा आँख से मिलाना आँख,
क़दमबोस होना तो ज़रूर ही ज़रर है।
कूचे से निकल जाना पैर कटवाये जायँ,
फ़न्दा गेसुओं का तो अजीब ही ख़तर है॥
नाज़ अन्दाज़ में क़यामत है रामानन्द,
शोहरा शहीदों का ज़रूर तर बतर है।
बुते बेपीर से लगाना दिल यार गोया,
पत्थर से शीशे को लड़ाना सरासर है॥ २६॥

सवैया

आफ़त के परकाले हैं काले ये
गेसू निराले अजीबो ग़रीब हैं।
गोश तक आये, बढ़े फिर दोश तक,
ताकमर आ कर पाये नसीब हैं॥
हैं रामानन्द दो चन्द ये मार से
हाय किसी के न होते हबीब हैं।
आशिक़ हाय सँभल कर बैठ
क़यामत शामत दोनों करीब हैं॥ २६॥

आवो गले मिल फाग मचावें
मोहर्रम टाल दो ये शबरात है।
शम्शतबरेज़ ने खाल खिँचाई
न मैं मनसूर जो सूली की घात है॥
आज अज़ाब करे सो सवाब है
यह रामानन्द बड़ी करामात है।
चोली कसे लसे गोली से नैन ये
भोली सी सूरत होली की रात है॥ ६५॥

है दिल बीच ग़ुबार भरा क्यों
निगाह भी नीची गड़ी रहती है।
हाय हँसी तो फँसी किसी रोज़
ख़याल में ग़र्क़ पड़ी रहती है॥
जो रामानन्द घटा उल्फ़त की
नज़र बदली सी अड़ी रहती है।
रात दिन ऐसी कड़ी चश्मों से
बड़ी अश्कों की झड़ी रहती है॥ ६६॥

दाग़ मुदाम गुलों के जो खाये
तो सीना बनारस का कमख़्वाब है।
वस्ल की लज़्ज़त ऐसी उठाई
हुआ मजनू का हमें भी ख़िताब है॥
बेकली सौंप गया गुलरू मुझे
हाय ख़याल ख़ुरिश है न ख़्वाब है।
कल नहीं पड़ती किसी करवट,
न किसी पहलू, मुझे ऐसा अज़ाब है॥६६॥
हुस्न के बुर्ज पै है ख़ुरशीद
घटा से घिरा हटा क्यों नहीं देते?
संबुल में शबनम उलझी है
तपाक से भी तपा क्यों नहीं देते?
आशिक़ ज़ार अलील खड़े हैं
मसीह बने दवा क्यों नहीं देते?
चेहरे से ज़ुल्फ़ हटा कर रात को
दिन करके दिखा क्यों नहीं देते?

यह कविता अच्छी है या बुरी, इसके निर्णयकर्त्ता केवल सहृदय जन ही हो सकते हैं। अन्य नहीं। इसके अनुप्रास, इसके भाव, इसकी अक्षर-मैत्री सभी प्रशंसनीय हैं।

[जनवरी १६०७]

रीडरों में ब्राकेटबन्दी

[१५]

संयुक्त प्रान्तों में प्रारम्भिक शिक्षा की उन्नति के लिए एक कमिटी बनी थी। उसने अपनी रिपोर्ट गत सितम्बर में प्रकाशित कर दी। यह रिपोर्ट सरकारी गैज़ट में भी निकली है और अलग पुस्तकाकार भी छपी है। हमने भी इसकी एक कापी गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद, से वी० पी० द्वारा मँगा कर पढ़ी। क़ीमत देकर इसे मँगाना और पढ़ना इसलिए हमने ज़रूरी समझा, क्योंकि इस रिपोर्ट का सम्बन्ध सार्वजनिक शिक्षा से है और शिक्षा-सम्बन्धी विषयों पर कुछ लिखना हम भी अपना कर्तव्य समझते हैं। इस रिपोर्ट की और और बातों को छोड़ कर हम केवल इन प्रान्तों की पाठशालाओं में प्रचलित रीडरों की भाषा ही पर इस लेख में कुछ लिखना चाहते हैं।

देशी भाषाओं में शिक्षा देने के लिए इन प्रान्तों में जो मदरसे हैं उनमें नीचे लिखे अनुसार दरजे रक्खे गये हैं—

(१) अ	लोअर प्राइमरी अथवा प्रिपरेटरी।
(२) ब	
(३) पहला	
(४) दूसरा	

(५) तीसरा (६) चौथा	अपर प्राइमरी
(७) पाँचवाँ (८) छठा	मिडिल

इन दरजों में जो रीडरें पढ़ाई जाती हैं उनकी लिपि फ़ारसी और देवनागरी दोनों हैं। जो लड़के फ़ारसी लिपि में शिक्षा पाते हैं उनकी पुस्तकों की भाषा उर्दू होती रही है और जो देवनागरी में शिक्षा पाते हैं उनकी भाषा हिन्दी। सदा से यही नियम रहा है। इसमें अन्तर नहीं पड़ा। परन्तु पाँच सात वर्षों से गवर्नमेंट ने अपनी इस चिर-प्रचलित नीति को एकदम ही बदल दिया है। न मालूम क्यों, उसे यह सूझा कि लिपि चाहे फ़ारसी हो चाहे नागरी, पर भाषा दोनों की एक ही होनी चाहिए। फल इसका यह हुआ कि पुरानी रीडरें ख़ारिज कर दी गईं और एकदम नई रीडरें जारी हुईं। ये नई रीडरें पहले बड़े बड़े विद्वान् अँगरेज़ों ने लिखीं। फिर हिन्दुस्तानियों ने इनका अनुवाद, देशी भाषा में, किया। तब वे मदरसों में जारी हुईं।

इन रीडरों के जारी होते ही अध्यापकों, इन्सपेक्टरों और अन्य शिक्षित लोगों में असन्तोष के चिन्ह दिखाई देने लगे। जब यह असन्तोष बढ़ने लगा तब गवर्नमेंट से यह प्रार्थना की गई कि यद्यपि उर्दू और हिन्दी की प्रकृति एक ही है और व्याकरण भी दोनों का प्रायः एक ही है, तथापि दोनों का झुकाव जुदा जुदा दो भिन्न दिशाओं की ओर है। उर्दू का कुछ और ही ढँग है, हिन्दी का कुछ और ही। उर्दू में अरबी, फ़ारसी और

तुर्की तक के अपरिचित शब्द रहते हैं और हिन्दी में संस्कृत के। बोल-चाल की सीधी सादी भाषा—चाहे वह फ़ारसी लिपि में लिखी जाय, चाहे देवनागरी लिपि में—परस्पर बहुत भेद नहीं रखती। परन्तु जो रीडरें मदरसों में पढ़ाई जाती हैं उनकी भाषा में उत्तरोत्तर नये नये और कठिनतर शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है। क्योंकि बिना ऐसा किये भाषा-ज्ञान की वृद्धि नहीं हो सकती। इस दशा में यदि रीडरों की भाषा एक ही रहेगी तो लड़के हिन्दी और उर्दू, दोनों ही, भाषाओं का यथेष्ट ज्ञान न प्राप्त कर सकेंगे। उच्च अर्थात् साहित्य की उर्दू का ज्ञान बढ़ाने की इच्छा से यदि फ़ारसी-अरबी शब्दों का अधिक प्रयोग किया जायगा तो नागरी लिपि में शिक्षा पाने वाले लड़कों के हिन्दी-भाषा-ज्ञान की वृद्धि में बाधा आवेगी। इसी तरह यदि संस्कृत के कठिन शब्द काम में लाये जायँगे तो फ़ारसी लिपि में शिक्षा पाने वाले लड़कों के उर्दू-भाषा-ज्ञान की वृद्धि न होगी। यह इतनी मोटी बात है कि सहज ही में सब की समझ में आ सकती है। और प्रान्तों की गवर्नमेंट इसे खूब समझती है। इसीलिए मध्य-प्रदेश में हिन्दी और उर्दू की रीडरें अलग अलग हैं। जिस पञ्जाब में हिन्दी का प्रचार उर्दू की अपेक्षा कम है उसकी गवर्नमेंट ने भी इन दोनों भाषाओं को जुदा ही जुदा रक्खा है।

परन्तु दुःख की बात है, इस भेद-भाव को यहाँ की गवर्नमेंट ने न स्वीकार किया। नतीजा यह हुआ है कि वर्तमान रीडरों की भाषा न अच्छी हिन्दी ही है और न अच्छी उर्दू ही। उर्दू के ज्ञाता अलग चिल्ला रहे हैं कि हमारी भाषा की हत्या की जा रही है, हिन्दी के अलग। तिस पर भी कुछ मुसलमान सज्जन इस कुप्रबन्ध ही को सुप्रबन्ध समझते हैं। आनरेबुल बाबू गङ्गाप्रसाद वर्मा के मत में उनकी आन्तरिक इच्छा यह मालूम होती है कि हिन्दी का नाम ही

उड़ा दिया जाय। स्कूलों की किताबों की लिपियाँ जुदा जुदा चाहे भले ही हों, पर भाषा उनकी उर्दू ही रहे। इस भाषा को गवर्नमेंट की तरह, वे भी 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं। सो अभी तक इन प्रान्तों में हिन्दी और उर्दू, ये दो ही भाषायें थीं; अब एक तीसरी भाषा भी उन दोनों के बीच में घुस पड़ना चाहती है। नैनीताल की जिस कमिटी का उल्लेख ऊपर हुआ है उसके मेम्बरों की संख्या १२ थी। उनमें ६ अँगरेज़, ४ हिन्दू और २ मुसलमान थे। हिन्दुओं में थे—पण्डित सुन्दरलाल, बाबू गङ्गाप्रसाद वर्म्मा, बाबू घासी-राम और बाबू कुञ्जविहारीलाल। मुसलमानों में थे—पीरपुर के राजा श्रीयुत अबूजफ़र और बरेली के श्रीयुत असग़रअली ख़ाँ। कमिटी में जब भाषा-विषयक विचार उपस्थित हुआ तब पूर्वोक्त मुसलमान मेम्बरों ने बड़ा रौरा मचाया। उन्होंने कहा—गवर्नमेंट ने एक बार नहीं, कई बार निश्चित रूप से यह कह दिया है कि रीडरों की भाषा में हिन्दी-उर्दू का भेद न रहना चाहिए। उनकी भाषा रोज़मर्रह की वही बोलचाल की भाषा होनी चाहिए जिसे इन प्रान्तों के पढ़े लिखे लोग बोलते हैं। ऐसे ही तर्काभास के बल पर उन्होंने इस विषय पर विचार किया जाना ही अनुचित समझा। उन्होंने यहाँ तक कहा कि गवर्नमेंट ने तो इस पर हम लोगों को विचार करने की आज्ञा ही नहीं दी। अतएव इस विषय पर कुछ कहना सुनना मानो गवर्नमेंट की आज्ञा के बाहर जाना होगा। अब इस 'आज्ञा' का भी अल्प इतिहास सुन लीजिए—

वर्तमान रीडरों की भाषा आदि के सम्बन्ध में जब सब तरफ़ से शिकायतें आने लगीं तब गवर्नमेंट ने, १९१० ई० में, एक कमिटी बना दी। उस कमिटी से कहा गया कि वह इस बात पर विचार करे कि प्राइमरी मदरसों की रीडरें कैसी होनी चाहिए और उनकी भाषा किस तरह की होनी चाहिए।

इस कमिटी ने भाषा के सम्बन्ध में पहले तो यह निश्चय किया कि तीसरे और चौथे दरजों की रीडरों की भाषा बोल चाल की साधारण भाषा हो। हाँ, यदि कहीं संस्कृत या फ़ारसी के बहुत ही अच्छे और भाषा की दृष्टि से महत्व-पूर्ण मुहावरे या शब्द रखना मुनासिब समझा जाय, और यदि वे सीधे सादे हों, तो वे भी रख लिये जाँय। पर उस कमिटी के उर्दू-पक्षपाती मेम्बरों ने इस बात पर सख़्त एतराज़ किया। उनके एतराज़ की मात्रा बढ़ने लगी। संस्कृत का नाम उनके लिए हौवा हो गया। हिन्दी के पक्षपाती फ़ारसी सीखें; अरबी सीखें; इन भाषाओं की बड़ी बड़ी परीक्षायें पास करें; उर्दू और फ़ारसी में किताबें भी लिखें और अख़बार भी निकालें। उर्दू के पक्षपाती हमारे भाई बहुत ख़ुश ! परन्तु यदि उनसे संस्कृत का एक शब्द भी उच्चारण करने के लिए कहा जाय तो वे बेहद नाराज़ ! संस्कृत पढ़ना तो दूर रहा, उन्हें संस्कृत का नाम तक सुनना गवारा नहीं। अँगरेज़, फरासीसी, जर्मन, अमेरिकन हिन्दुस्तान से हज़ारों कोस दूर बैठे हुए, संस्कृत सीखते हैं। परन्तु जिस हिन्दुस्तान में हमारे ये उर्दू के पक्षपाती भाई आठ सौ वर्ष से रहते हैं उसकी संस्कृत भाषा का नाम सुनते ही उनके तलवों की आग मस्तक तक पहुँचती है। भला इस तअस्सुब का भी कहीं ठिकाना है। ख़ैर।

ख़ान-बहादुर सैय्यद मुहम्मद हादी भी इस कमिटी के मेम्बर थे। उन्होंने कमिटी के इस विचार या मन्तव्य को ज़रा भी पसन्द न किया। आपने अलग एक नोट लिखा। उसमें आपने बड़ी बड़ी आपत्तियाँ उठाईं। फल यह हुआ कि कमिटी को अपना पहला मन्तव्य रद करना पड़ा। तब मताधिक्य से यह निश्चय हुआ कि प्राइमरी दरजों की रीडरों की भाषा वही हो जिसे इस सूबे के पढ़े लिखे आदमी बोलते हैं। अर्थात् वही जो चार पाँच साल पहले

ही से जारी है और जिससे प्रायः सभी असन्तुष्ट हैं। गवर्नमेंट ने भी इस निश्चय को मान लिया और यही उसकी वह पूर्वोल्लिखित 'आज्ञा' है। इसी निश्चय के अनुसार जो नई रीडरें इस समय बन रही हैं उनकी भाषा, कमिटी के बतलाये हुए साँचे में, ढाली जा रही है और साथ ही कमिटी के बताये हुए और और परिवर्तन भी हो रहे हैं—अथवा यह कहना चाहिए कि हो चुके हैं। इसी से नैनीताल की कमिटी के उर्दू-प्रेमी मेम्बरों ने यह कह कर इस विषय को टाल देना चाहा कि भाषा की बात तो तै हो चुकी है। अब फिर उस विषय का विचार क्यों किया जाय? डाक्टर सुन्दर-लाल ने इस पर कहा कि यह सब तो ठीक है। परन्तु उस कमिटी की सिफ़ारिश के अनुसार रीडरों का ठीक ठीक बनना असम्भव बात है। ऐसा हो ही नहीं सकता कि एक नहीं अनेक विषयों के पाठ रीडरों में रहें, यथाक्रम नये नये शब्द भी रक्खे जायँ और यथाक्रम भाषा भी कुछ ऊँची होती जाय, तिस पर भी फ़ारसी और देवनागरी लिपि में लिखी गई रीडरों की भाषा एक ही बनी रहे। पण्डित जी ने कहा कि इन रीडरों के बनाने में जो कठिनाइयां हुई हैं उनसे मैं स्वयं परिचित हूँ। उनकी भाषा न हिन्दी ही है, न उर्दू ही। परन्तु उनकी बात न मानी गई। इस पर कमिटी के सभापति जस्टिस पिगट ने बड़ा ज़ोर लगाया। उन्होंने पण्डित जी के पक्ष का समर्थन किया। तब कहीं इस विषय पर कमिटी में विचार हो पाया।

विचार होते होते यह निश्चय हुआ कि पहले और दूसरे दरजे की उर्दू और हिन्दी रीडरों की भाषा एक ही रहे; क्योंकि आरम्भ की पहली दो पुस्तकों में भाषा-भेद न होने से भी काम चल सकता है। परन्तु यह बात आगे, अर्थात् तीसरे और चौथे

दरजे की रीडरों में, नहीं हो सकती। इस लिए बाबू गङ्गाप्रसाद वर्म्मा ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि इन दरजों में दो तरह की रीडरें पढ़ाई जायँ—अर्थात् उर्दू और हिन्दी की रीडरें जुदा जुदा रहें। इस पक्ष का समर्थन उन्होंने अनेक युक्तियों से किया। उन्होंने कहा कि भाषा के इस एकाकार का फल यह हुआ है कि अपर प्राइमरी पास लड़के न तो उर्दू या हिन्दी का कोई अख़बार ही अच्छी तरह समझ सकते हैं और न कोई किताब ही। तीसरे और चौथे दरजे की रीडरों की भाषा न तो अच्छी हिन्दी ही कही जा सकती है, न उर्दू ही। हिन्दी का शब्द-समूह विशेष कर संस्कृत से लिया जाता है और उर्दू का फ़ारसी और अरबी से। इन दोनों भाषाओं की प्रवृत्ति भिन्न भिन्न दिशाओं की तरफ़ है। ऐसी दशा में हिन्दी और उर्दू को एक ही काँटे पर तोलना और एक ही लट्ठे से नापना सर्वथा अनुचित है। जो लोग इन रीडरों की भाषा को एक करना चाहते हैं उनकी आन्तरिक इच्छा यह जान पड़ती है कि हिन्दी का प्रायः समूल बहिष्कार करके उर्दू का साम्राज्य स्थापित किया जाय। इन प्रान्तों के अधिकांश निवासी हिन्दी, अथवा उससे निकली हुई अन्य प्रांतिक बोलियाँ, बोलते हैं। हिन्दी का ग्रन्थ-साहित्य अनेक ग्रन्थ-रत्नों से भरा हुआ है। उनमें से कितने ही ग्रन्थ सैकड़ों वर्ष के पुराने हैं। अतएव हिन्दी का गला घोंटने का प्रयत्न करना व्यर्थ है। इसी से मध्य-प्रदेश और पञ्जाब में भी हिन्दी और उर्दू की रीडरें जुदा जुदा हैं। वर्तमान रीडरें पढ़ कर अपर प्राइमरी स्कूलों से पास हुए लड़के यदि रामायण, प्रेम-सागर और ब्रज-विलास आदि भी न समझ सकें तो ऐसी रीडरों से क्या लाभ? प्रचलित रीडरों की भाषा को हिन्दुस्तानी कह देने से वह हिन्दी नहीं हो सकती। १९१० ईसवीवाली कमिटी का मतलब हिन्दुस्तानी से हिन्दी का नहीं, किन्तु उर्दू का है।

हिन्दी का इस प्रकार पक्ष-समर्थन करने के लिए हिन्दी बोलने वालों को बाबू गङ्गाप्रसाद वर्म्मा का कृतज्ञ होना चाहिए। परन्तु उनके तर्क और उनकी प्रबल युक्तियों ने काम न दिया। नैनोताल की कमिटी ने उनका यह प्रस्ताव पास न किया। तब डाक्टर सुन्दरलाल ने दो प्रस्ताव किये। उन्होंने कहा—बहुत अच्छा। तो एक काम कोजिए। तीसरी और चौथी दफा की रीडरों में संस्कृत और फ़ारसी के कुछ ऐसे भी शब्द रहने दीजिए जो भाषा की उन्नति की दृष्टि से आवश्यक हों। नागरी लिपि में छपी हुई रीडरों में जहाँ आवश्यकता समझी जाय वहाँ और ही शब्द रक्खे जायँ, परन्तु उन शब्दों के आगे ब्राकेट में उनका दूसरा रूप भी लिख दिया जाय जो फारसी लिपि में छपी हुई पुस्तकों में प्रयुक्त हुआ हो। इसी तरह फारसी लिपि की रीडरों में यदि कोई ऐसा शब्द रखना मुनासिब समझा जाय जो उर्दू भाषा के अनुकूल हो तो वह रख दिया जाय और ब्राकेट में उसका पर्य्यायवाची हिन्दी-शब्द लिख दिया जाय। इसके सिवा भाषा में और कोई भेद न रक्खा जाय। दोनों तरह की रीडरों के पाठ भी एक ही से हों और विषय भी। इस पर भी बड़ी बड़ी आपत्तियाँ उठीं। मिस्टर स्ट्रट फील्ड और मुसलमान-मेम्बरों ने इसके ख़िलाफ़ राय दी। परन्तु बहुमत से यह प्रस्ताव, किसी तरह, पास हो गया। यदि गवर्नमेंट ने भी इस बात को मंज़ूर कर लिया तो जिस छापेख़ाने में ये रीडरें छपेंगी उसे मन दो मन ब्राकेट मँगवा कर पहले ही से रख लेना पड़ेगा। हमारे मुसलमान भाइयों की बदौलत यह ख़र्च भी हमें बरदाश्त करना पड़ेगा। परन्तु, विश्वास रखिए, इस ब्राकेट-बन्दी से बहुत दिन तक काम चलनेवाला नहीं। जब पहले पहल रीडरों की भाषा एक की गई और उनके लिए कविता ढूँढ़ी जाने लगी तब ढूँढ़ने वालों को ऐसी कविता ही न मिली जो दोनों

रीडरों में एक सी रक्खी जा सके। अतएव कविता अपनी अपनी अलग ही रही। अब उर्दू, नहीं हिन्दुस्तानी, भाषा के प्रेमियों की बदौलत ब्राकेटबन्दी करने की ठहरी है। देखिए, यह ढोंग भी कब तक चलता है।

ब्राकेटबन्दी के मामले से छुट्टी पाकर डाक्टर सुन्दरलाल ने दूसरा प्रस्ताव उपस्थित किया। उन्होंने कहा, एक काम और कीजिए। तीसरे और चौथे दरजे की रीडरों में छः छः सबक़ बढ़ा दीजिए। फ़ारसी लिपि की रीडरों में उर्दू के अख़बारों और पुस्तकों से छः मज़मून चुन कर रक्खे जायँ और देवनागरी की पुस्तकों में हिन्दी के अख़बारों और पुस्तकों से। उर्दू-प्रेमी मेम्बरों ने इसका भी बड़े ज़ोरो शोर से प्रतिवाद किया। लप्टन और फ्री-मैंटल साहब भी उन्हीं की तरफ़ हुए। परन्तु राम राम करके, बहुमत के आधार पर, किसी तरह यह प्रस्ताव भी पास हो गया! ख़ैर, जो कुछ हुआ वही ग़नीमत है। धन्यवाद है डाक्टर सुन्दर-लाल को जिन्होंने किसी तरह छः सबक़ तो हिन्दी-उर्दू में जुदा जुदा लिखने की सम्मति प्राप्त कर ली। यही बहुत है। सर्व्वनाशे समुत्पन्ने अर्धं त्यजति पण्डितः।

अब इन रीडरों की भाषा के सम्बन्ध में यह रहा —

(१) पहले और दूसरे दरजे की रीडरों की भाषा एक रही।

(२) तीसरे और चौथे दरजे की रीडरों में ब्राकेटबन्दी की ठहरी। अन्त में हिन्दी और उर्दू के छः छः सबक़, हिन्दी या उर्दू के अख़बारों और पुस्तकों से, देने की राय रही। हिन्दी का लगाव संस्कृत से है और उर्दू का फ़ारसी और अरबी से। जो लड़के प्राइमरी मदरसों में पढ़ते हैं उनमें से कितने ही अँगरेज़ी स्कूलों और कालेजों में जाते हैं। वहाँ उनको संस्कृत और फ़ारसी-अरबी से बहुधा काम पड़ता है। यदि वे आगे न भी पढ़ें तो भी हिन्दी

पढ़नेवाले हिन्दुओं के लड़कों को घर पर भी संस्कृत की नहीं, तो हिन्दी की, धार्मिक तथा अन्य पुस्तकें पढ़नी पड़ती हैं। इसी तरह मुसलमानों के लड़कों को भी करना पढ़ता है। फिर हमारी समझ में यह नहीं आता कि प्राइमरी मदरसों में पढ़नेवाले लड़कों को एक ही साँचे में ढली हुई भाषा से एक सा लाभ कैसे हो सकता है। क्योंकि दोनों की प्रवृत्ति और दोनों के उद्देश अलग अलग होते हैं। इस विषय में गवर्नमेंट की वर्तमान नीति कुछ समझ में नहीं आती। किसी ने ठीक कहा है—

वेश्याङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा।

इस सम्बन्ध में जस्टिस टी० सी० पिगट की न्याय-परता की प्रशंसा किये बिना हम नहीं रह सकते। हिन्दी और उर्दू के विषय में जो राय शिक्षित हिन्दुओं की है वही आपकी भी है। आपकी राय का सारांश नीचे दिया जाता है—

नागरी लिपि में छपी हुई पुस्तकों और समाचार-पत्रों की भाषा—चाहे आप उसे साहित्य की हिन्दी कहिए, चाहे कुछ और—फ़ारसी लिपि में छपी हुई पुस्तकों और समाचारपत्रों की भाषा से बिलकुल जुदा है। इस भेद-भाव को जान बूझ कर न देखने या उस पर ख़ाक डालने से काम नहीं चल सकता। ऐसा करना फ़िज़ूल है। अतएव यह बहुत जरूरी है कि डाक्टर सुन्दर-लाल की सम्मति के अनुसार रीडरों में परिवर्तन किया जाय। यदि ऐसा न किया जायगा तो जो लड़के चौथा दरजा पासकर के मिडिल स्कूलों के पाँचवे दरजे में भर्ती होंगे उनकी पढ़ाई में थोड़ी बहुत बाधा ज़रूर आवेगी। यहाँ मतलब उन लड़कों से है जिनकी शिक्षा अपर प्राइमरी दरजों में नागरी-लिपि के द्वारा हुई होगी। जो लड़के चौथे ही दरजे से मदरसा छोड़ देंगे वे यदि मदरसा छोड़ने पर छोटी मोटी किताबें और अख़बार भी न समझ

सकें तो उनकी उस शिक्षा से उन्हें बहुत ही कम लाभ हुआ समझिए। जो लोग प्राइमरी मदरसों में भाषा-सम्बन्धी एकाकार करने के सब से बड़े पक्षपाती हैं वे भी, आशा है, इस बात को स्वीकार करेंगे। पिगट साहब की राय का सारांश यही है।

नैनीतालवाली कमिटी के विषय में भारतमित्र, अपने २० नवम्बर के अङ्क में, लिखता है—

"मालूम नहीं सरकार की उस कमिटी का क्या हुआ। यदि उसने अपनी रिपोर्ट पेश की हो तो सरकार को अपनी राय के साथ वह बिना विलम्ब प्रकाशित करनी चाहिए।"

इस पर हमारा निवेदन है कि सरकार की राय तो अभी तक हमारे देखने में नहीं आई, पर कमिटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुए दो महीने हो चुके। उसी रिपोर्ट के प्रकाशन से हमें इस ब्राकेटबन्दी का ज्ञान हुआ है। इस ज्ञान-प्राप्ति के लिए पैसे ख़र्च करने पड़े हैं। भारतमित्र को भी इस ज्ञान के सर्व्वांश की प्राप्ति अभीष्ट हो तो वह भी इस रिपोर्ट को वैल्यू पेयेबुल पैकेट से मँगा ले। या किसी से माँग जाँच कर काम चलावे। इन प्रान्तों की गवर्नमेंट हिन्दी के लेखकों और मर्मज्ञों को जैसे रीडरें बनाने, अँगरेज़ी में लिखी गई रीडरों का अनुवाद करने और टेक्स्ट बुक कमिटी में बैठने की योग्यता से ख़ारिज समझती है वैसे ही हिन्दी के कितने ही समाचारपत्रों और पत्रिकाओं को अपनी तथा गवर्नमेंट आव् इंडिया की प्रकाशित पुस्तकें और गैज़ट आदि पाने की योग्यता से भी ख़ारिज समझती है। कुछ ही भाग्यशाली पत्र और पत्रिकायें उसकी दृष्टि में इनको पाने की योग्यता रखते हैं। इन कुछ में एक आध मुर्दे भी शामिल हैं। उन को मरे मुद्दतें हुईं। पर सरकारी गैज़ट आदि उन्हें अब तक—दो तीन महीने पहिले तक—बराबर मिलते रहे हैं और शायद अब भी मिलते हों।

[दिसंबर १९१३]

पूर्वी हिन्दी

[१४]

भारतवर्ष में प्रचलित भाषाओं और बोलियों के सम्बन्ध में डाक्टर ग्रियर्सन ने जो खोज की है उसका फल अब एक पुस्तकमाला के रूप में निकल रहा है। इस माला के एक एक खण्ड धीरे धीरे प्रकाशित हो रहे हैं। इसकी पाँचवीं जिल्द के दूसरे खण्ड में उड़िया और बिहारी भाषा (बोली) का वर्णन और उसके नमूने हैं। बिहारी बोली पुरानी प्राकृत-मागधी की कन्या है। पर आजकल की हिन्दी से भी उसका बहुत साम्य है। अतएव अपने प्रान्त के भाषा-प्रेमियों के भी जानने योग्य बहुत सी बातें उसमें हैं।

इस समय डाक्टर साहब की इस पुस्तक-माला की छठी जिल्द हमारे सामने है। उसमें पूर्वी हिन्दी का वर्णन और उसके ५८ नमूने हैं। कोई कोई नमूना बहुत ही मज़ेदार है। वह इतना मनोरञ्जक है कि उसे पढ़ कर हँसी रोके नहीं रुकती। ये नमूने बिलकुल देहाती बोली में दिये गये हैं। जो बोली देहात में स्त्रियाँ और अपढ़ आदमी बोलते हैं उसी के नमूने इसमें एकत्र किये गये हैं। जो कहानियाँ देहाती स्त्रियाँ, शाम के वक़्त, आग के पास बैठ कर, अपने बच्चों को सुना कर उनको ख़ुश करती हैं उनके कई नमूने इसमें बहुत ही अच्छे हैं।

डाक्टर ग्रियर्सन ने हिन्दू-आर्यभाषाओं की एक मध्यवर्ती शाखा मानी है। उसी शाखा का नाम आपने पूर्वी हिन्दी रक्खा है। पुरानी अर्द्धमागधी को आपने पूर्वी हिन्दी की माँ माना है। पटना-प्रान्त की पुरानी भाषा मागधी और मथुरा-प्रान्त की पुरानी सौरसेनी कहलाती है। इन दोनों के मेल से बनी हुई

भाषा अर्द्धमागधी है । इसी ने पूर्वी हिन्दी को पैदा किया है। डाक्टर साहब ने इस पूर्वी हिन्दी के तीन भाग माने हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। जिस प्रान्त में जो बोली अधिकता से बोली जाती है उसी के अनुसार उसका नाम रक्खा गया है।

पूर्वी हिन्दी नीचे लिखी हुई जगहों में बोली जाती है—

(१) अवध में—हरदोई और फ़ैज़ाबाद के कुछ हिस्से छोड़ कर।

(२) युक्त-प्रान्त में—बनारस और हमीरपुर के बीच में।

(३) पश्चिमोत्तर-बुन्देलखण्ड, बघेलखण्ड और छोटा नागपुर में।

(४) मध्य-प्रदेश में—छत्तीसगढ़ तथा जबलपुर और मँडला के ज़िलों में।

यह भाषा जिन खण्डों में बोली जाती है उनकी लम्बाई कोई ७५० मील, चौड़ाई २५० मील और क्षेत्रफल १, ८७, ५०० वर्ग-मील है। कितने आदमी कौन बोली बोलते हैं, इसका हिसाब नीचे है—

अवधी	...	...	१, ६०, ००, ०००
बघेली	...	...	४६, १२, ७५६
छत्तीसगढ़ी	...	...	३७, ५५, ३४६
		कुल जोड़—	२, ४३, ६८, ७९९

योरप में हंगारी, पोर्चुगल और बलगेरिया नाम के तीन छोटे छोटे देश हैं। अवधी बोलनेवालों की संख्या हंगारी के निवासियों की संख्या के बघेली बोलनेवालों की संख्या पोर्चुगल के निवासियों की संख्या के और छत्तीसगढ़ी बोलनेवालों की संख्या

बलगेरिया के निवासियों की संख्या के लगभग है। योरप में आस्ट्रिया नाम का एक बहुत बड़ा देश है। मर्दुमशुमारी से सिद्ध है कि पूर्वी हिन्दी के कुल बोलनेवालों की संख्या आस्ट्रिया के निवासियों से अधिक है। कुछ ठिकाना है। इस देश के छोटे छोटे प्रान्तों में योरप के कई देश समा जाते हैं।

अवधी का नाम बैसवारी भी है; क्योंकि बैसवारे ही में यह सब से अधिक बोली जाती है। जिस प्रान्त में बैस-शाखा के क्षत्रिय अधिक रहते हैं उसका नाम बैसवारा है। लखनऊ, रायबरेली और उन्नाव के ज़िलों में इस शाखा के क्षत्रियों की अधिकता है। डाक्टर साहब ने फ़तेहपुर का भी नाम दिया है; परन्तु हम अपने अनुभव से कह सकते हैं कि बैसवारे की और फ़तेहपुर की बोली में अन्तर है। पर व्याकरण सब कहीं का प्रायः एक ही सा है। अवध की बोली में जिन्होंने आज तक कविता की है उनमें तुलसीदास का नम्बर सब से ऊपर है। तुलसीदास के ग्रियर्सन साहब बहुत बड़ा ग्रन्थकार मानते हैं। उनकी राय है कि किसी समय दुनिया भर के आदमी एकमत होकर तुलसीदास का नाम उसी रजिस्टर में लिखेंगे जिसमें कि जगत् के सबसे बड़े कवियों और ग्रन्थकारों का नाम दर्ज है। इसमें कोई सन्देह नहीं। हम भी ऐसा ही समझते हैं। हमारी भी यही राय है। इस बोली में जितनी पुस्तकें लिखी गई हैं और जितनी कविता हुई है न तो उतनी पुस्तकें ही हिन्दी-भाषा-भाषियों की और किसी बोली में लिखी गई हैं और न उतनी कविता ही हुई है। कई अँगरेज़ और फ़रासीसी ग्रन्थकारों ने इस बोली पर प्रबन्ध लिखे हैं।

बघेली का माहात्म्य अवधी की अपेक्षा बहुत कम है। उसमें अच्छी अच्छी जितनी पुस्तकें बनी हैं सब प्रायः रीवाँ में बनी हैं।

रीवां ही के दरबार में विद्वानों और कवियों का आदर अधिक होता रहा है। १५६३ ईसवी में प्रसिद्ध गायक तानसेन महाराजा रामचन्द्र के आश्रित थे। इस दरबार में असनी के हरिनाथ कवि का भी ख़ूब सम्मान हुआ था। महाराजा विश्वनाथसिंह स्वयं अच्छे कवि थे; इसलिए कवियों और पण्डितों की उन्हें बड़ी चाह थी। उनका बनाया हुआ आनन्द-रघुनन्दन नाटक प्रसिद्ध है। महाराजा रघुराज सिंह ने तो काव्यप्रियता में सब से अधिक नाम पाया। उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं। उनका सब से प्रसिद्ध ग्रन्थ आनन्दाम्बुनिधि नामक श्रीमद्भागवत का अनुवाद है। एक पादरी साहब ने बाइबिल का अनुवाद बघेली बोली में किया है। पादरी केलाग ने भी अपने हिन्दी-व्याकरण में इस बोली के विषय में कुछ लिखा है।

छत्तीसगढ़ी बोली की कई शाखायें हैं। जङ्गली अनार्य भी आर्यों की बोली बोलने लगे हैं। परन्तु इस प्रयत्न में वे अच्छी तरह कामयाब नहीं हुए। उनकी बोली आर्य और अनार्य बोलियों की खिचड़ी हो गई है। बिँझवारी, भुलिया और बैगानी आदि बोलियाँ उनमें मुख्य हैं। छत्तीसगढ़ी में नाम लेने योग्य भाषा-साहित्य नहीं। वहाँ के प्रसिद्ध प्रसिद्ध गीतों और क़िस्सों को बाबू हीरालाल काव्योपाध्याय ने अपने व्याकरण में लिखा है। यह व्याकरण छत्तीसगढ़ की बोली का है।

डाक्टर साहब ने बोलियों के जो नमूने दिये हैं उनमें से बैसवारे की बोलियों के नमूनों को हमने ध्यान से देखा। हमारी जन्म-भाषा बैसवारी ही है। इसीलिए हमने औरों की अपेक्षा उसी के नमूनों पर विशेष विचार किया। उससे हमारा यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि जिन लोगों ने डाक्टर साहब को ये नमूने भेजे हैं या तो उनका

सम्बन्ध इस प्रान्त से बहुत ही कम था, या उन्होंने ठीक ठीक नमूने एकत्र करने की ओर यथोचित ध्यान ही नहीं दिया। क्योंकि इन नमूनों में फ़रक़ जान पड़ता है।

जिस बोली के वे नमूने हैं उसे लोग ठीक ठीक वैसा नहीं बोलते। सम्भव है, इस प्रकार की गड़बड़ और बोलियों के नमूने देने में भी हुई हो। हमारा इतना सौभाग्य कहाँ कि इस लेख को परम विद्वान् डाक्टर ग्रियर्सन साहब देखें। वे न सही, और ही लोग शायद इस पर विचार करें। अतएव हम बैसवारी बोली के एक आध नमूने की आलोचना करना चाहते हैं।

अवधी बोली देहात में कई प्रकार के अक्षरों में लिखी जाती है। उन अक्षरों का सर्वसाधारण नाम कैथी है। परन्तु सब अक्षर एक से नहीं होते। उनमें अकसर थोड़ा बहुत भेद होता है। अतएव डाक्टर साहब को चाहिए था कि उन सब लिपियों के भी नमूने वे इस पुस्तक में देते। गोंड़ा ज़िले की एक लिपि का जो नमूना उन्होंने दिया है वह काफ़ी नहीं। ऐसे कितने ही नमूने इस लिपि के हैं। और और भाषाओं की प्रायः सभी लिपियों के नमूने आपने और और जिल्दों में दिये हैं। पर, नहीं मालूम, अवधी और बुन्देलखण्डी के दो चार नमूने आपने क्यों नहीं दिये? शायद मिले ही न हों। या उनके लिए कोशिश ही न की गई हो। या किसी ने आपसे कह दिया हो कि और कोई नमूने हैं ही नहीं। ख़ैर।

डाक्टर साहब कहते हैं कि रायबरेली ज़िले में वही बोली बोली जाती है जो प्रतापगढ़ ज़िले के पश्चिम में बोली जाती है। फ़रक़ इतना ही है कि रायबरेली की बोली में उर्दू के शब्द और मुहाविरे अधिक हैं; क्योंकि यह ज़िला लखनऊ से मिला हुआ है। डाक्टर साहब की इस राय से हम सहमत नहीं। रायबरेली का

जो भाग प्रतापगढ़ से मिला हुआ है उसकी बोली में विशेष अन्तर नहीं है। परन्तु रायबरेली ज़िले के और भागों की बोली पश्चिमी प्रतापगढ़ की बोली से बहुत अधिक भेद-भाव रखती है। रायबरेली बैसवारे का केन्द्र है। इससे साहब को चाहिए था कि यहाँ की बोली के विषय में वे अधिक छानबीन करते। ज़िले के हाकिमों ने न मालूम किस आधार पर उन्हें लिख दिया कि प्रतापगढ़ और रायबरेली की बोली प्रायः एक सी है। हम अपने घर पर रायबरेली की बोली कोई ३७ वर्ष से बोलते हैं। अतएव हम अपने तजरुबे और अपनी निज की शहादत के आधार पर कह सकते हैं कि डाक्टर साहब की राय सही नहीं। डाक्टर साहब को इस विषय में इतना भ्रम हो गया है कि उन्होंने रायबरेली, अर्थात् बैसवारी बोली के केन्द्रस्थल, का एक भी नमूना देने की ज़रूरत नहीं समझी। पश्चिमी प्रतापगढ़ की जिस बोली को उन्होंने रायबरेली की भी बोली बतलाया है उसका उन्हीं का दिया हुआ नमूना नीचे देकर हम उसके बराबर बराबर उसका सही रूप देते हैं। पाठक देख लें कि दोनों में कितना अन्तर है। *

*प्रतापगढ़ के पश्चिम की अवधी बोली का नमूना।	रायबरेली की बोली का नमूना।
याक घरे-माँ कथा कही जात रही। *पण्डित जौन कथा कहत रहें सगरे गाँव का न्योतिन—रहै। सुनवैयन माँ याक अहिरौ आवत—रहै। ऊ	याकन के घरमाँ कथा होति रहै। उन गाँव भरे का न्यौता दीन रहै। सुनवैयन माँ एकु अहिरो रहै। कथा सुनै की बेरिया वहु रूवावा बहुत करै। जी पण्डित कथा बाँचति रहैं उइ वहिका प्रेमी जानि कै निकीतना बैठावैं औ खुब खातिर करैं। याक दिन

*यह ग़लत है पण्डित न्योता नहीं देता; जिसके यहाँ कथा होती है वह देता है।

इससे यह साफ़ ज़ाहिर है कि जो नमूना साहब ने दिया है उससे रायबरेली की बोली नहीं मिलती। पिछली बोली का तरीक़ा ही जुदा है—उसमें 'उ' और 'वा' की बहुत अधिकता है। उर्दू के शब्द उसमें एक ही दो हैं; सो भी अपभ्रंश के रूप में।

यही दशा लखनऊ के ज़िले की बोली की भी है। उसके नमूने साहब ने हिन्दी-लिपि में नहीं दिये, क्योंकि वे उर्दू में लिखा कर साहब के पास भेजे गये थे। आपने उनका रूपान्तर अँगरेज़ी लिपि ही में देकर सन्तोष किया है। पण्डित श्यामविहारी

कथवा सुनतीं बेरा र्‌वावा बहुत करै और पण्डितौ वहि—का प्रेमी जान कै वहि-का नीकी तना बैठावैं और खूब खातिर करैं। याक दिना पण्डितौ पूँछिन कि राउत तूँ र्‌वावत बहुत हौ। तुमका काउ समुझ परत है। तौ अहिरवा औरौ सेवाइ र्‌वावै लाग औ कहिस कि महाराज मेरे याक भैंसि बिआन रही। कुछ बगद गवा औ ऊ बहुतै बेराम हुइ-गै और पड़ौना का नेकचाइ न देत रही। तौ पड़ौना दिना भर चिच्यान औ साँहीँ जूनी मर गा। तौन पण्डित वहै की नाईं तु हूँ दिना भर चुकरत-रहत हैा। मैं-का डेर लागत है कि कतहूँ तुहूँ न ओकरीं नाईं मर जा।

पण्डित पूँछेन कि भगानि भाई तुम यतना र्‌वावति काहे का हौ। तुमका का जानि परत है। यह सुनिकै अहिरवा औरौ ज्वार ज्वार र्‌वावै लाग। वह ब्वाला कि महाराज मेरे एकु भैंसि बियानि रहै। वह नजरयाय गै औ पड़ौना का नगच्याय न देइ। पड़ौना दिन भरि चिल्लान और सँझली जून मरिगा। वही की तना पण्डित तुमहूँ दिन भरि चिल्लाति हौ। यहि ते महिँ का डेरु लागत है कि कतौ तुमहूँ ना वही की नाहित मरि जाव।

मिश्र लखनऊ ज़िले के रहनेवाले हैं। साहब के दिये हुए एक नमूने को अब 'मिश्र जी के' नमूने से मिलाइए।

ईश्वर करे यही दशा और और बोलियों की भी न हुई हो। परन्तु इसमें डाक्टर साहब का दोष कम है। जैसे नमूने उनको मिले वैसे उन्होंने दे दिये। अधिक दोष ज़िले के अफ़सरों और

लखनऊ की (और बाराबंकी की भी) अवधी बोली का नमूना।

(डाक्टर साहब का दिया हुआ)

याक गाँव मा याक लम्बरदार के नान्ह-सारी बिटीवा रहै। जब व-की उमर सोरह सतरह बरिस-के भै, वह जून लम्बरदार-का वह-के बियाह-की फ़िकिर बाढ़ी। वह बेरिया नाऊ बाम्हन कै बोलाय कै लड़िकवा का ढूढ़ै पठयन। थोड़े दिनन-मा याक लड़िका मिला। वह के साथ बिटीवा-कै बनावन्त बना, और बाम्हन पूछा गवा, और बियाह की तैयारी भै। लड़िकवा-कै बाप आवा और लेय देय के पाछे बत-कहाव होय लाग। हज़ार रुपैया बहुत कहे सुने तै—भवा। तब लम्बरदार राजी-खुशी से घर गे और बारात कै दिन बदा गा। दुलहा-कै बाप पन्दरह हजार सवाग लै-कै बड़ी धूमधाम से दुलहिन के

लखनऊ की ठीक अवधी बोली का नमूना।

(पण्डित श्यामविहारी मिश्र का दिया हुआ)

याक गाँव में याकै लम्बरदार के नान्हिसरी बिटिया रहै। जब वहिकी उमिरि स्वारा सत्रह वर्स कि भै तब लम्बरदार क वहि के बियाह कि फिकिरि बाढ़ी। वहे बेरिया नाऊ बाँमन क बोलाय क लरिका ढूँढ़ै पठइनि। थोरे दिनन में एकु लरिका मिला। वहि से बिटेवा क बनाबन्तु बना औरु बाँभनु पूँछा ग औ बियाहे कि तयारी भै। लरिका क बापु आवा और लेय देय क बतकहाव होय लाग। हज़ार रुपया बहुतु कहे सुने ठीक भ। तव लम्बरदार राजी खुसीते घरै गे औ बरात क दिनु बदा ग। दुलहा क बापु पन्द्रह हजार बराती लैकै बड़ी धूमधाम ते दुलहिनि के घरे आवा और दुवारे कि चारु होय लागि।

नमूना भेजनेवालों का है। मुमकिन है, इस नमूने की बहुत सी ग़लतियाँ फ़ारसी लिपि के कारण हुई हों। "लागि" में नीचे ज़ेर के छूट जाने से "लाग" हो जाना कोई बात ही नहीं।

डाक्टर ग्रियर्सन ने लखनऊ ज़िले की बोली के दो नमूने दिये हैं। दिया गया नमूना जहाँ का है वहीं पण्डित श्यामबिहारी जी का घर है। अतएव उनका नमूना डाक्टर साहब के नमूने से ज़रूर अधिक प्रामाणिक है। डाक्टर साहब के नमूने में शब्द ग़लत हैं; वाक्य ग़लत हैं और वाक्यों का क्रम भी ग़लत है। जिस प्रान्त का नमूना है उसमें "सवांग" शब्द बोला ही नहीं जाता। "वह के साथ बिटोवा कै बनावन्त" पहले ही बन गया; "बाह्मण पूछा गवा" उसके बाद! "और विवाह की तय्यारी" पहले ही होगई; लेन देन की बात का फ़ैसला हुआ पीछे! न मालूम किसने ऐसी उलटी सीधी बातों से भरा हुआ बे सिर पैर का नमूना भेजा है। डाक्टर साहब तो हिन्दुओं के रस्म जानते होंगे। उनको चाहिए था कि वे ऐसी बेतरतीबवार और बेहूदा बातें नमूने में न आने देते। जो विवाह १०००) में ठहरता है भला उसमें कहीं १५००० बराती

घरे आवा और द्वारे-चार होय लाग। होम दच्छिना-के माँगे—मा पण्डित से तकरार भै, लाठी चलै लाग। बहुत मनई दूनो कैत घायल भयन। तब बरात रिसाय चली। वही समय-मा गाँव के भलेमानुस यकट्ठा होइ-कै बरात मनाय लायन। चौथे दिन बियाह भवा और भात बढ़ार खुसी से खायन; और बिदा होय-कै अपने घर आयन।

होम दच्छिना के माँगे मँ पण्डित से तकरार ह्वै गै और लाठी चलै लागि। बहुत मनईं दूनौं कैती घायल भे। तब बरात रिसाय चली। वहे बेरियाँ गाँव के भले मानुस यकट्ठा ह्वै के बरात मनाय लाये। चौथे दिन बिवाहु भ औ बराती ल्वाग भातु बढ़ार खुसी ते खाइनि औ बिदा ह्वै कै अपने घरै आये।

आते हैं ? यदि १५०००) रुपये में भी कोई विवाह ठहरे तो भी शायद ही इतने आदमी उसमें आवें। इस तरह का कथन एक प्रलापमात्र है। फिर कहीं लाखों में शायद एक ही आध विवाह ऐसा होता होगा जिसमें लाठी चलती हो। अतएव उसके जिक्र की इस नमूने में क्या ज़रूरत थी ? इसे पढ़ कर विदेशियों के मन में यह सन्देह हो सकता है कि शायद हिन्दुस्तान में ऐसी ऐसी दुर्घटनायें बहुधा हुआ करती हों।

हमारी समझ में हिन्दुस्तान की सब बोलियों के ठीक ठीक नमूने कोई नहीं दे सकता। एक ज़िले में कई प्रकार की बोलियाँ बोली जाती हैं। दो दो चार चार कोस पर बोलियाँ बदली हैं। उनका भेद-भाव कोई कहाँ तक बतावेगा ?

यदि कदाचित् डाक्टर साहब के देखने में यह लेख आ जाय तो हमारी प्रार्थना है कि इस स्वल्प आलोचना के लिए वे हमें कृपापूर्वक क्षमा करें।

[मई १९०५]

अकबर के राजत्वकाल में हिन्दी

[१७]

यह ८८ पृष्ठ का एक निबन्ध है। पण्डित सूर्यनारायण दीक्षित, बी० ए०, ने इसे लिखा है। उन्होंने इसे हमारे पास समालोचना के लिए भेजा है। आपने हमें आज्ञा दी है कि हम इस पुस्तक पर अपनी सच्ची राय दें। प्रणयानुरोध से हमें ऐसा ही करना पड़ेगा। दीक्षित जी हम पर बड़ी कृपा करते हैं। अतएव मानव-स्वभाव के वशीभूत होकर, सम्भव था, कि हम उनकी पुस्तक को स्नेह-सिञ्चित दृष्टि से देखते, क्योंकि—

"वसन्ति हि प्रेम्णि गुणा, न वस्तुनि"

स्नेही को स्नेही की बुरी से भी बुरी चीज़ में भी गुण ही गुण देख पड़ते हैं। अथवा यों कहिए कि प्रेम ही में गुणों का वास रहता है। परन्तु दीक्षित जी "अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः" इस युक्ति के श्रोतृसम्बन्धी उदाहरण स्वयं ही बनना चाहते हैं। आपका यह उदार-भाव अन्यान्य ग्रंथकर्ताओं के अनुसरण करने योग्य है। हिन्दी के लिए यह सौभाग्य की बात है कि उसके प्रेमियों में ऐसे भी उच्चाशय सज्जन हैं जो प्रशंसा के भूखे नहीं, किन्तु अपने गुण-दोषों की सच्ची समालोचना के भूखे हैं। वर्द्धस्व दीक्षितोत्तंस !

अकबर ने ५० वर्ष राज्य किया। इस अर्ध-शताब्दी में हिन्दी के कौन कौन कवि हुए, कौन कौन पुस्तकें बनीं, कौन कौन विषयों में परिवर्तन हुआ, किस किस विषय के ग्रंथ लिखे गये, हिन्दी की उन्नति हुई या अवनति—इन, तथा और भी कितनी ही बातों का विचार इस पुस्तक में किया गया है। इन सब के विचार करने के

लिए समय और अध्ययन चाहिए। हिन्दी के अनेक प्रसिद्ध कवि अकबर ही के समय में हुए हैं। उनकी रचनाओं को ध्यान से पढ़ना और उनसे अनेक प्रकार के निष्कर्ष निकाल कर उनकी आलोचना करना परिश्रम-साध्य काम है। हर्ष की बात है, पण्डित सूर्यनारायण ने इस काम को बहुत अच्छी तरह किया है। आपने इस निबन्ध में अकबर के समय के प्रत्येक हिन्दी-कवि का थोड़ा बहुत हाल लिखा है। उनकी कविता के गुण-दोषों का विचार किया है और उनकी कविता के नमूने भी दिये हैं। इसके सिवा अकबर के समय में हिन्दी से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी घटनायें हुई हैं सब का उल्लेख किया है। आपका मत है कि अकबर के राजत्वकाल में हिन्दी की बड़ी उन्नति हुई। अपनी इस सम्मति की पोषकता में आपने अनेक प्रमाण भी दिये हैं। उन्नति से सम्बन्ध रखनेवाले भौगोलिक, धार्म्मिक, सामाजिक और भाषा-सम्बन्धी सभी कारणों का आपने विचार किया है। यह सब सहज काम नहीं। बड़े परिश्रम, बड़ी खोज और बड़े अध्ययन का काम है। इसलिए पण्डित सूर्यनारायण की जितनी प्रशंसा की जाय कम है।

अकबर के समय में हिन्दी-कविता की उन्नति ज़रूर हुई। इसमें कोई सन्देह नहीं। पर इस उन्नति के जो कारण पण्डित सूर्यनारायण ने बतलाये हैं वे हमारी समझ में ठीक नहीं। आपकी राय है कि अकबर के राज्य-काल में—

(१) देश में शान्ति होने,

(२) "अकबर और उसके दरबारियों का हिन्दी के कवियों का आदर-सत्कार" करने,

(३) अकबर की राजधानी आगरा, ब्रजमण्डल में, होने,

(४) सोलहवीं शताब्दी के मध्य में हिन्दी को प्रौढ़ता प्राप्त होने,

(५) वैष्णवधर्म के ज़ोर पकड़ने, से हिन्दी-कविता उन्नत अवस्था को पहुँची। ये बातें विचार करने से ठीक नहीं मालूम होतीं।

अकबर के समय के हिन्दी के पद्य-साहित्य में नाम लेने लायक़ सौ पचास काव्य तो हैं नहीं। हैं सिर्फ़ दो—अर्थात् रामायण और सूरसागर। रामचन्द्रिका, कविप्रिया और रसिकप्रिया आदि भी हैं। पर उनका उतना प्रचार नहीं। हाँ, रामचन्द्रिका का कुछ अधिक प्रचार है; तथापि रामायण, विनयपत्रिका और सूरसागर के बराबर नहीं।

सूर और तुलसी के कविता-विकास का कारण देश में शान्ति का होना नहीं। ये दोनों महात्मा विरागी थे। न इनके पास कुछ धन था, न कोई बड़ी जायदाद जो अशान्ति के कारण लुट जाने का डर होता। इनके लिए शान्ति और अशान्ति प्रायः तुल्य थीं। अशान्ति के समय में धन-सम्पदावाले आदमी भी चोरों और डाकुओं के डर से साधु-संन्यासी के भेष में निर्विघ्न विचरण कर सकते हैं। फिर जो सच्चे साधु—सच्चे त्यागी—हैं उन्हें अशान्ति का समय कैसे विघ्नकारक हो सकता है? यदि सूर और तुलसी के समय में घोर राजविप्लव होता तो भी उनके कमण्डलु और गुदड़ी का कोई गाहक न होता। दुराचारी आदमियों को भी साधु के भेष में देख कर उन्हें सताने का किसी को साहस नहीं होता। फिर भला ऐसे सच्चे महात्माओं और ऐसे भक्त-शिरोमणियों को कौन बाधा-व्यथा पहुँचाने का साहस करता? अतएव अकबर के समय में चाहे जितनी अशान्ति होती, सूर और तुलसी वैसे ही निर्भय-विचरण करते और वैसी ही

स्वच्छन्दता से भक्ति-रस-पूर्ण कविता बनाते जैसे कि शान्ति के समय में उन्होंने किया। इससे देश में शान्ति का होना उनके कविता-विकास का कारण नहीं।

केशवदास अलबत्ते गृहस्थ थे। वे संसार-त्यागी न थे। पर उनके समय में बुँदेलखण्ड में यथेष्ट शान्ति कहाँ थी? दंगे, फसाद, लड़ाइयाँ होती ही रहीं और वे अपने रसिक-समाज में, मधुप बन कर, कविता-कलिकाओं का रस लेते ही रहे। उन्हें काम था अपनी कविता, अपने इन्द्रजीत और अपने इन्द्रजीत की प्रवीण राय से। समग्र भारत में क़त्ल होता रहे उन्हें क्या परवा? अगर देश में अशान्ति होने से कविता बन्द हो सकती तो देश पर मुसलमानों की चढ़ाइयाँ होती रहने और लूट-पाट तथा मार-काट में लिप्त रहनेवाले शिवाजी के समय में रह कर भूषण कवि कभी अच्छी कविता न बना सकते। कवियों को कविता की जिस समय स्फूर्ति होती है उस समय देश की अशान्ति का उन पर बहुत ही कम असर होता है। देश की तो बात ही नहीं, यदि उनके कुटुम्ब पर, नहीं, ख़ुद उन पर भी कोई संकट पड़े, तो भी उनकी कविता का विकास रुक नहीं सकता। जो कवि अपनी सौतेली माँ से पीड़ित होकर घर से निकल भागा और निकलते ही एक तेली को सामने आते देख कर यह कह उठा कि—

इक तेली कहा करिहै तिहिको
सौ-तेली बसें जिहि के घर माँही।

उसे उस समय थोड़ा दुःख न था। देश में अशान्ति होने से कवियों की प्रतिभा पर जितना असर पड़ सकता है ख़ुद अपने ही ऊपर आपत्ति आने से उससे तो अधिक ही असर पड़ता है।

पर स्फूर्ति होने से आपदा-विपदा का सामना कविता को नहीं बन्द कर सकता। शेख़ सादी के समय में फ़ारिस में कौन बड़ी शान्ति थी। फिर वे किस तरह गुलिस्ताँ और बोस्ताँ ऐसी अनमोल पुस्तकें लिख सके? अरब में कितने ही कवि ऐसे हो गये हैं जिनको बहुत कम शान्ति-सुख नसीब हुआ। पर, इससे उनके कविता-कलाप में कुछ भी बाधा नहीं आई।

रहे रहीम, गङ्ग, नरहरि, क़ादिर, मुबारक, रसखानि और नरोत्तमदास आदि अकबर के समय के अन्यान्य कवि, सो उनके कोई ऐसे ग्रन्थ प्रसिद्ध नहीं जिनसे हिन्दी की विशेष उन्नति मानी जा सके। इस तरह के कवि शान्ति के समय में भी कितने ही हुए और अशान्ति के समय में भी। उनकी कविता का कारण शान्ति का होना कदापि नहीं कहा जा सकता। शान्ति ही के समय में यदि कविता हो सकती तो पुराने ज़माने में भाट-चारण आदि अपने आश्रयदाता राजों के साथ चढ़ाइयों पर न जाते और वहाँ समयानुकूल कविता बना कर योद्धाओं को उत्साहित न करते।

आश्रय मिलने से कविजन आराम से रह सकते हैं। उन्हें कविता करने में सुभीता ज़रूर होता है। पर आश्रय-प्राप्ति कविता का कारण नहीं। स्मरण रहे, हम अकबर के समय की बात कर रहे हैं, आज कल की नहीं। राजाश्रय यदि कविता-निर्माण का कारण या सहायक होता तो सूर, तुलसी, होमर और सादी कदापि ऐसे उत्तमोत्तम काव्य न लिख सकते। बाबू हरिश्चन्द्र को किसका आश्रय था? माइकेल मधुसूदन को किसकी मदद थी? अकबर के ज़माने में जो हिन्दी की इतनी उन्नति हुई वह विशेष करके तुलसी और सूरदास की रचनाओं से। इन कवियों को किसी का आश्रय न था—न अकबर का, न उसके दरबारियों का।

केशवदास को आश्रय ज़रूर था। पर कौन कह सकता है कि यदि उन्हें आश्रय न होता तो वे रामचन्द्रिका आदि ग्रन्थ न बना सकते? पुराने ज़माने में जो अच्छे विद्वान् अथवा अच्छे कवि थे वे रूखा-सूखा खाकर और मोटा कपड़ा पहन कर ही .खुश रहते थे। साधारण अवस्था में रहने से उन्हें कोई कष्ट न होता था— अथवा यों कहिए कि उसे वे कष्ट समझते ही न थे। उस स्थिति में रह कर भी वे विद्याव्यासङ्ग में लगे रहते थे और नये नये काव्य और नये नये ग्रंथ बनाया करते थे। .खुद हमारे जन्मग्राम के पास कई विद्वान् ऐसे हो गये हैं जो सदा अपने ही घर पर रहे और पूजा-पाठ करके बसर करते रहे। पर कई ग्रन्थ वे ऐसे छोड़ गये हैं जिनके समकक्ष ग्रन्थ राजाश्रय में रहनेवाले विद्वानों से भी नहीं बन सके। अतएव यह कहना कि राजाश्रय के कारण अकबर के समय में हिन्दी की उन्नति हुई, ठीक नहीं। हाँ, यदि उस समय के राजे, महाराजे और धनवान् आदमी कवियों और पण्डितों को अपने यहाँ रख कर ग्रन्थ-निर्माण कराते और उन ग्रन्थों के कारण हिन्दी की उन्नति होती तो राजाश्रय-कारण ठीक माना जाता। अकबर के समय में केशवदास को ज़रूर राजाश्रय था। पर उनकी पुस्तकें, सूरसागर और तुलसीदास की पुस्तकावली के मुक़ाबले में, महत्व में भी कम हैं और परिमाण में भी कम। अतएव केशव-दास के सम्बन्ध में, राजाश्रय ही के कारण, यदि हिन्दी की उन्नति मानी जाय तो भी यह उन्नति, कुल उन्नति के सामने कोई $\frac{1}{8}$ से अधिक न होगी। पर, याद रहे, केशव का आदर न अकबर ही ने किया, न उसके दरबारियों ही ने।

रहे क़ादिर, रसखानि और नरहरि आदि कवि। सो उनके ग्रन्थ प्रसिद्ध नहीं। अतएव यदि उनका राजाश्रित होना मान भी लिया जाय तो उसके कारण हिन्दी की उन्नति नहीं मानी जा

सकती। इन कवियों के पहले और पीछे जो कवि हुए हैं उन्होंने आश्रय न होने पर भी क्या इनसे कम कविता की है?

अगर अकबर की राजधानी आगरे में न होती तो क्या तुलसीदास रामायण, विनयपत्रिका और दोहावली आदि काव्य न बनाते? क्या केशवदास अपनी पुस्तकों की रचना न करते? क्या सूरदास का सूरसागर न बनता? इन लोगों ने न अकबर से कोई सम्बन्ध रक्खा, न उसकी राजधानी से। इनको छोड़ कर औरों में से कुछ ने यदि अकबर और आगरे से सम्बन्ध रक्खा भी तो उनका सम्बन्ध रखना न रखने के बराबर है, क्योंकि अकबर के ज़माने में हिन्दी को उन्नत करने योग्य उन्होंने कोई ग्रन्थ नहीं बनाये। अतएव इस कारण के विषय में विशेष कहने सुनने की ज़रूरत नहीं।

पण्डित सूर्यनारायण की राय है कि सोलहवीं शताब्दी के मध्य में हिन्दी प्रौढ़ावस्था को पहुँच गई थी, इससे उसकी उन्नति हुई। अच्छा अब इस बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में वह और भी अधिक प्रौढ़ हो गई है न? तो उस समय जो हिन्दी-काव्य बन गये उनसे उत्कृष्ट काव्य अब बनने चाहिए थे। पर तब से लेकर आज तक रामायण, रामचन्द्रिका और सूरसागर से भी बढ़िया और कितने ग्रन्थ बने। बढ़िया की तो बात ही नहीं, घटिया भी नहीं बने। फिर भला भाषा की प्रौढ़ता उस समय की हिन्दी-उन्नति का कारण कैसे मानी जा सकती है? मलिक महम्मद जायसी के समय में भाषा क्या कम प्रौढ़ थी?

हाँ, वैष्णव-धर्म उस समय ज़रूर ज़ोर पर था। उसके कारण हिन्दी की उन्नति मानी जाय तो मानी जा सकती है। परन्तु थोड़ी ही। क्योंकि तुलसी और केशव के ग्रन्थ इस धर्म के ज़ोर पकड़ने के कारण नहीं बने।

हमारी समझ में अकबर के ज़माने में जो हिन्दी के अच्छे अच्छे ग्रन्थ बने और उनके द्वारा जो हिन्दी की उन्नति हुई वह एक आकस्मिक घटना है। दैवयोग ही कुछ ऐसा आ गया कि दो तीन अच्छे अच्छे कवि उस समय उत्पन्न हो गये। उनके ग्रन्थों के निर्माण का कारण न अकबर का आश्रय था, न देश में शान्ति की स्थापना, न राजधानी का आगरे में होना, न हिन्दी का प्रौढ़ता को पहुँच जाना। राजा विद्याव्यसनी होने से उसकी आश्रयदत्त भाषा की उन्नति होती है। विक्रमादित्य, हर्षवर्द्धन, भोज, जयचन्द आदि राजे इसके उदाहरण हैं। कवियों और पण्डितों ने इनके आश्रय में रह कर संस्कृत के अनेक उत्तमोत्तम ग्रन्थ बनाये; पर अकबर के दरबार के कवियों ने कोई ऐसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ नहीं बनाये जिनके कारण हिन्दी की उन्नति मानी जाय। जो उन्नति हुई है वह और ही कवियों की कृपा से हुई है।

आशा है, पण्डित सूर्यनारायण हमें अपनी इस स्वतन्त्र सम्मति के लिए क्षमा करेंगे। आपकी आज्ञा ही को मान्य करके हमने स्पष्टतापूर्वक सम्मति देने का साहस किया है।

[नवंबर १९०७]

आयुर्वेद-महत्व

[१८]

प्राज्ञों का कहना है कि संसार में न तो कोई वस्तु सर्वथा निर्दोष ही है और न कोई सर्वथा सदोष ही। विष ही कभी कभी अमृत का काम देता है और अमृत ही कभी कभी विष का। जो पदार्थ दोषों ही से परिपूर्ण मालूम होते हैं, ढूँढ़ने पर उनमें भी गुण पाये जा सकते हैं। मनुष्य की बुद्धि की पहुँच ही कितनी जो वह समस्त पदार्थों के समस्त गुण-दोषों का पता लगा सके। वस्तुजात के विषय में जब मनुष्य की बुद्धि इतनी पङ्गु है तब सभी शास्त्रों का जानना तो उसके लिए त्रिकाल में भी सम्भव नहीं। एक ही शास्त्र का चूड़ान्त ज्ञान प्राप्त करना एक जन्म में सम्भव नहीं। तब अनेक शास्त्रों में पारदर्शी होने की कथा का तो उत्थान ही नहीं हो सकता।

परन्तु अहङ्कार एक ऐसा दुर्गुण है जो मनुष्य की विवेक-शक्ति पर परदा डाल देता है। इस दुर्गुण के शिकार बड़े बड़े ज्ञानी, विज्ञानी और पण्डित तक हो जाते हैं। यही कारण है जो किसी एक शास्त्र में परिमित भी गति रखनेवाला मनुष्य यदा कदा और शास्त्रों के ज्ञाताओं की अवहेलना करने लगता है। महामोह की महिमा से वह अपने को सर्वशास्त्र-दर्शी बनने का दावा कर बैठता है। एलोपैथी अर्थात् डाक्टरी रोग-चिकित्सा-शास्त्र में जहाँ बहुत से गुण हैं तहाँ कुछ दोष भी हैं। इसी तरह आयुर्वैदिक चिकित्सा अनेक-गुण-सम्पन्न होने पर भी दोषों से ख़ाली नहीं। परन्तु कुसंस्कार और अहङ्कार महाराज की कृपा से इधर तो कोई कोई वैद्य डाक्टरी चिकित्सा पर अनुचित आक्षेप करते हैं, उधर डाक्टर साहब भी वैद्यों ही को नहीं वैद्यराजों को भी फूटी, आँख

नहीं देखना चाहते। कुछ डाक्टरों के अविवेक और अभिमान की तो सीमा ही नहीं। आयुर्वेद-चिकित्सा का बिलकुल ही ज्ञान न रख कर, अथवा थोड़ा ही ज्ञान प्राप्त करके, वे उसे अवैज्ञानिक, पिछड़ी हुई, यहाँ तक कि मूर्खों और असभ्यों की प्रचलित की हुई तक कहने का साहस कर बैठते हैं। संयुक्तप्रांत के कौंसिल के एक अधिवेशन में, कोई तीन वर्ष हुए, एक ऐसा ही दृश्य उपस्थित हुआ था। एक डाक्टर साहब आयुर्वेद पर बड़े ही निष्ठुर, पर बहुत कुछ निःसार, आक्रमण कर बैठे थे।

मान लीजिए कि देशी वैद्यक, विज्ञान की भित्ति पर स्थित नहीं। मान लीजिए कि दो हज़ार वर्षों से उसने कुछ भी उन्नति नहीं की। मान लीजिए कि उस में एक्सरेज़, थर्मामीटर, स्टैथेस्कोप, खुर्दबीन आदि यंत्रों का नाम तक नहीं। अच्छा, न सही। पर इन त्रुटियों के होने पर भी क्या उसमें रोगनिवारण की कुछ भी शक्ति नहीं? इस बात की परीक्षा के लिए तो वैज्ञानिक सिद्धान्तों के आश्रय की ज़रूरत भी नहीं। वैद्यक-चिकित्सा से रोग दूर होता है या नहीं, यह तो प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। आप शहरों और बड़े बड़े क़स्बों की मृत्यु-संख्या का मिलान देहात की मृत्यु-संख्या से कर लीजिए। देहाती आदमी वैद्यों की दवा करते हैं, शहरवाले डाक्टरों की। पर आपको मृत्यु-संख्या में विशेष अन्तर न मिलेगा। सच तो यह है कि कितने ही रोगों और कितने ही रोगियों की चिकित्सा में वैद्य जितना सफल होते हैं, डाक्टर नहीं होते। यह बात भी आँख से देख कर जानी जा सकती है। इसके लिए भी किसी यन्त्र, औज़ार या पैमाने को ज़रूरत नहीं। अच्छा दो उदाहरण लीजिए। इन उदाहरणों का सम्बन्ध ख़ुद मुझ से है—

मेरी वयस्क भाञ्जी के गुर्दे में कुछ ख़राबी हो गई। पेशाब में बहुत अलबूम्यन जाने लगा। बदन फूल गया। कमज़ोरी बेहद

बढ़ गई। डाक्टरों ने अलबूमेनोरिया रोग बतलाया। पेशाब को काँच की नली में डाल कर उसमें तेज़ाब छोड़ते ही वह जम कर ठोस (Solid Mass) हो गया। देख कर डाक्टर हैरान हो गये। यन्त्र-द्वारा रासायनिक परीक्षा से भी लड़की की हालत बहुत ख़राब मालूम हुई। डाक्टरों ने दस पाँच रोज़ दवा करके चिकित्सा बन्द कर दी। उन्होंने हरिहर-स्मरण की याद दिलाई। तब वैद्यों की दवा की गई। उन्होंने चन्द्रप्रभा बटी और शुक्तिचूर्ण ही से एक ही महीने में, लड़की को नीरोग कर दिया। इस बात को कोई ३ वर्ष हो गये। अब तक लड़की को वह रोग फिर नहीं हुआ।

दूसरा उदाहरण ख़ुद मेरा है। पेट की कुछ शिकायत के कारण १५ दिसम्बर २५ को मैं कानपुर दवा कराने गया। वहाँ रोग बढ़ गया। मैं म्रियमाण दशा को प्राप्त हो गया। कई डाक्टरों ने बड़े प्रेम से मेरी चिकित्सा की। पर रोग न गया। बराबर दो महीने तक उन्होंने अनार और नारङ्गी के रस तथा थोड़े से हारलिक्स मिल्क (डब्बों के विलायती दूध) पर मुझे किसी तरह जीता रक्खा। जब उनकी चिकित्सा से कुछ भी लाभ न हुआ तब उन्होंने कृपापरवश हो कर मुझे मेरे मित्र वैद्यों को सौंप दिया। उस समय मेरा शरीर अस्थिमात्र रह गया था। जिगर बढ़ा हुआ था; उसमें दर्द भी था। मलावरोध की बड़ी शिकायत थी। ज्वर भी था। वैद्यों ने मिल कर एक कान्फ़रन्स की। उसमें दवा और पथ्य का निश्चय हुआ। तीसरे ही दिन ज्वर जाता रहा। और शिकायतें भी धीरे धीरे दूर हो गईं। और, दवा क्या दी गई थी—सिर्फ़ लौह और एक और दूसरी चीज़। कुछ समय तक सुवर्ण मकरध्वज भी दिया गया। सो दवा तो योंही राम का नाम थी। वैद्यों की मुख्य दृष्टि पथ्य पर थी। एक महीने तक उन्होंने

मुझे केवल दुग्ध पर रक्खा। फिर, धीरे धीरे, फल और तरकारी पर लाये। तदनन्तर अन्न दिया। इस पथ्य ने जादू का जैसा काम किया। इससे मेरा वह रोग ही नहीं जाता रहा, ३५ वर्ष का पुराना क़ब्ज़ भी बहुत कुछ दूर हो गया।

क्या ये उदाहरण इस बात के प्रमाण नहीं कि आयुर्वेद-विषयक चिकित्सा चाहे वैज्ञानिक हो चाहे अवैज्ञानिक, रोग निवारण की शक्ति उसमें जरूर है? हाँ, वैद्य अनुभवी, शास्त्रज्ञ, निस्पृह और दयालु होना चाहिए। फिर एक प्रकार से यह चिकित्सा अवैज्ञानिक है भी नहीं। जो वैद्य साक्षर हैं और इस चिकित्सा के "आकर" ग्रन्थों के सिद्धान्तों को समझ चुके हैं वे जानते हैं कि इसके सिद्धान्त दृढ़भित्तियों पर निश्चित किये गये हैं। उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन करनेवालों में कितने ही त्रिकालज्ञ ऋषि भी थे। कीटाणु-सिद्धान्त और पिचकारी द्वारा शरीर में ओषधि प्रवेश करने की योजना आदि यद्यपि वैद्यक-ग्रन्थों में, विकसित रूप में, नहीं, तथापि इस इतनी कमी के कारण यह चिकित्सा-पद्धति हेय नहीं कही जा सकती। इसी की बदौलत करोड़ों भारत-वासियों के रोगों का निवारण अब तक हुआ है और अब भी हो रहा है। यदि इसे वैसी ही राजकीय सहायता मिलती जैसी कि एलोपैथी को मिल रही है तो यह चिकित्सा भी उन अनेक नवीन तत्वों, सिद्धान्तों और यन्त्रों आदि से परिपूर्ण हो जाती जिनका गर्व हमारे डाक्टर लोग बड़े ही आस्फालन के साथ, कौंसिलों आदि में, किया करते हैं। आयुर्वेद-विद्या की दशा यद्यपि, इस समय, कितनी ही बातों में हीन है, तथापि यह चिकित्सा जिस स्थिति में है वह स्थिति भी ग़नीमत है। उस पर प्रहार पर प्रहार होते आये हैं—उसे स्थानभ्रष्ट करने के लिए और भी कई चिकित्सा-पद्धतियाँ खम ठोंक कर मैदान में आ डटी

हैं—फिर भी वह जो जीती जागती बच रही है, यह किसी की कृपा या उदारता का फल नहीं। उसमें कुछ गुण ही ऐसे हैं जिनका तिरोभाव या अत्यन्ताभाव विद्वेषियों की निन्दा और कुत्सा से अब तक नहीं हो सका और न आगे कभी हो सकने की सम्भावना ही है। यदि उसमें गुणों का अतिरेक न होता तो वह कभी की मर गई होती। उसे मार डालने के लिए कोई उपाय अज्ञों, ईर्ष्यालुओं ने नहीं छोड़े। यद्यपि इन निन्दकों की संख्या कम नहीं, तथापि कुछ विशद-बुद्धि और ख्यातनामा विदेशी डाक्टर, जिनमें अंगरेज-डाक्टर भी शामिल हैं, ऐसे भी हैं जो आयुर्वैदिक शिक्षा-पद्धति के गुणों के क़ायल हैं। इस दशा में जब हम अपने ही देश के जल, वायु और अन्न से पले हुए एलोपैथ डाक्टरों को अपने ही घर की चिकित्सा की निन्दा करते देखते या सुनते हैं तब अत्यन्त आश्चर्य होता है और दुःख तथा सन्ताप से हृदय जल उठता है। आयुर्वेद-विद्या में बिल्कुल ही कोरा होकर अथवा उसके दो एक ग्रन्थों के पन्ने इधर उधर उलट कर ही जो अपने को उस का ज्ञाता समझ बैठता है उस ज्ञानलव-दुर्विदग्ध की बुद्धि को बेचारा ब्रह्मा भी ठिकाने नहीं ला सकता। ऐसे लोग यदि अपनी एलोपैथी के गीत गावें और तत्सम्बन्धी ज्ञानमद से मत्त होकर अनाप-शनाप जल्पना करें तो उनके उस आलाप या प्रलाप का इलाज ही क्या है। समय पलटने पर यदि कभी उनका उन्माद दूर हो जायगा तो उनका प्रलाप भी आप ही आप बन्द हो जायगा।

१४ दिसम्बर १९२२ को इन प्रान्तों के क़ानूनी कौंसिल में ठाकुर मानकसिंह ने एक मसला पेश किया। आपने गवर्नमेंट को सलाह दी कि उसे वैद्यक और यूनानी चिकित्साओं को दाद देनी चाहिए, उनके औषधालय खोलने चाहिए, उनकी शिक्षा के लिए स्कूल और कालेज खोलने चाहिए आदि। एक युक्तिपूर्ण

भाषण करके आपने अपनी सूचनाओं की उपयोगिता और आवश्यकता सिद्ध की। इस पर बहस छिड़ गई। बहुत लोगों ने आपके प्रस्ताव का समर्थन किया; परन्तु कुछ ने उसका विरोध भी किया। इन पिछली कोटि के मेम्बरों में एक दिग्गज विरोधी निकल आये। आप पक्के, पूरे और नामी डाक्टर हैं। साथ ही आप फौजी मेजर-पदवी से भी विभूषित हैं। नाम आपका है—मेजर डाक्टर रञ्जीतसिंह और शुभ स्थान आपका है—त्रिवेणी-तट पर बसा हुआ प्राचीन प्रयाग। आपने ठाकुर साहेब के प्रस्ताव का घोर विरोध किया और आयुर्वैदिक चिकित्सा में कितने ही दोषों की उद्भावना की। उसे आपने अवैज्ञानिक बताया। डाक्टरी विद्या की कितनी ही शाखाओं का नाम लेकर आपने कहा कि इन शाखाओं के सम्बन्ध में आयुर्वेद-विषयक एक भी पुस्तक कोई दिखा दे तो हम जानें। इस विषय में आपने कौंसिल के मेम्बरों को चुनौती तक दे डाली। डाक्टरी के जो सिद्धान्त आज सच माने जाते हैं वे जब पच्चीस ही वर्ष बाद ग़लत साबित हो जाते हैं तब दो हज़ार वर्ष की पुरानी वैद्यविद्या के पुराने सिद्धान्त इस समय कैसे कारगर माने जा सकते हैं। इस तरह और भी कितने ही दोषों का आरोपण आपने स्वदेशी चिकित्सा-प्रणाली पर कर के कल की।

मेजर साहब के आक्षेपों का उत्तर उन्हें कौंसिल ही में मिल गया। ठाकुर मशालसिंह और ठाकुर नानकसिंह ने उनकी दलीलों की धज्जियाँ उड़ा दीं। मशालसिंह जी ने तो अपने एक कुटुम्बी का उल्लेख करके बताया कि बड़े बड़े पास-शुदह डाक्टर जब उसे नीरोग न कर सके तब हज़ारों वर्ष की पुरानी पद्धति से चिकित्सा करनेवाले एक वैद्य ही ने उसे प्राणदान दिया। ख़ैर, बहस का नतीजा यह हुआ कि वह प्रस्ताव "पास" हो गया,

सरकार तिब्बी और वैद्यक-चिकित्सा के प्रचार के लिए रुपया भी ख़र्च करने लगी और अब वह शायद ये चिकित्सायें सिखाने के लिए कोई स्कूल भी खोलने का विचार कर रही है।

मेजर डाक्टर रञ्जीत सिंह जी के विषाक्त वचनों की विचिकित्सा यद्यपि कौंसिल ही में काफ़ी हो चुकी थी, तथापि आयुर्वेद के कुछ प्रेमियों को उससे यथेष्ट सन्तोष न हुआ। इस कारण वे पण्डित शालग्राम शास्त्री की शरण गये। आप अनेक गुणगणालङ्कृत हैं। आप शास्त्री होने के सिवा साहित्याचार्य्य भी हैं, विद्यावाचस्पति भी हैं, विद्याभूषण भी हैं, वैद्यभूषण भी हैं और कविराज भी हैं। लखनऊ के अमीनाबाद मुहल्ले में "मृत्युञ्जय" नामक एक औषधालय भी आपने खोल रक्खा है। पहले आप काँगड़ी के गुरुकुल में अध्यापन-कार्य करते थे। वैद्यविद्या आपके घर में पुश्तों से चली आती है। मैं आपसे अच्छी तरह परिचित हूँ। आप चतुर चिकित्सक समझे जाते हैं। साहित्य के भी आप पूरे पण्डित हैं। साहित्य-दर्पण पर आपने एक उत्तम टीका लिखी है। वह प्रकाशित भी हो चुकी है। आप के गुणग्राम पर मुग्ध होकर लोगों ने आप ही से आग्रह किया कि वे मेजर साहब के आक्षेपों का युक्तिपूर्ण उत्तर दें। आपने इस अनुरोध को मान लिया। पर समय कम मिलने के कारण तीन वर्ष बाद आप उत्तर लिखने में समर्थ हुए। उत्तर आपका बहुत लम्बा हो गया। इससे उसे पुस्तकाकार निकालना पड़ा। नाम आपने उसका रक्खा है—आयुर्वेद-महत्त्व। पृष्ठ-संख्या उसकी ३०० के लगभग है, पर मूल्य केवल १) है। आप ही के औषधालय के पते पर पण्डित श्यामसुन्दर शर्म्मा भिषक्रत्न को लिखने से मिलती है।

इतनी भूमिका के बाद अब इस पुस्तक का कुछ परिचय भी सुन लीजिए। इसकी कापी मुझे अपनी बीमारी के समय कानपुर

में मिली। उलट पलट कर देखा तो यह एक प्रकार की खण्डनात्मक समालोचना मालूम हुई। इसमें तिक्त, मधुर, कटु, कसैले आदि कई रसों की पुट देख कर पढ़ने को जी चाहा। पर निर्बलता के कारण साद्यन्त पढ़ने में दो महीने लग गये। आयुर्वेद-विद्या के प्रेमियों के जानने योग्य मुझे इसमें बहुत सामग्री मिली। अतएव उनकी अवगति के लिए, असमर्थ होने पर भी, इस पर कुछ लिखना मैंने आवश्यक समझा।

पुस्तकारम्भ में शास्त्री जी ने एक श्लोक बड़े मार्के का दिया है। वट का विशाल वृक्ष जिस तरह उसके छोटे से बीज में छिपा रहता है उसी तरह इस पुस्तक के लिखे जाने का कारण और उद्देश इस श्लोक के भावार्थ में अन्तर्हित है। श्लोक यह है—

पाञ्चालीं चलितां चतुर्थपतितां सद्वेद-विद्यामिव
रे रे कीचक नीचवंशदहनीं मास्मावमंथाश्चिरम्।
अन्तर्ध्वान्तमनन्तवैरिदमनोन्मीलल्ललामोत्सवो
भ्राम्यद्भीमगदो मदोपशमनो जागर्ति पार्थो बली॥

इसका संक्षिप्त भाव यह है कि—रे नीच कीचक! इस पाञ्चाली को मत छेड़ना—इसकी अवमानना भूल कर भी न करना। देख, उन्मत्तों का उन्माद उतारनेवाला यह महाबली पार्थ, अपनी पाँच मन की गरुई गदा को चक्कर देता हुआ, पैतड़ा बदल रहा है। अथवा अपनी गदा को घुमाता हुआ जिसका भाई भीम भी यहीं विद्यमान है वह पार्थ सोता नहीं, जाग रहा है।

इस पुस्तक में जो कुछ है और जिस ढंग से वह प्रकट किया गया है उसका बीजरूपी प्रतिबिम्ब इस श्लोकरूपी मुकुर में स्पष्ट देखने को मिलता है। इस में उल्लिखित पार्थ की हुङ्कार इस पुस्तक में जगह जगह सुनने को मिलती है।

अपने कथन की पुष्टि में पुस्तक-प्रणेता ने अन्य शास्त्रों और ग्रन्थों के सिवा वेदों से भी अनेक प्रमाण उद्धृत किये हैं। परन्तु उन्होंने पुरानी पोथियों ही के भरोसे, अर्थात् उन्हीं के बल पर, इतना कठोर सिंहनाद नहीं किया। उन्होंने तर्क से भी काम लिया है और बहुत अधिक काम लिया है। उनकी दलीलें बहुधा बड़ी ज़बरदस्त हैं। हाँ, कहीं कहीं, वे कमज़ोर ज़रूर हो गई हैं। परन्तु विपक्षी को अपदस्थ करने के लिए बड़े बड़े तार्किक तक सबल और निर्बल सभी तरह के कोटि-क्रम का प्रयोग करते देखे गये और देखे जाते हैं।

शास्त्री जी ने पहले प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द इन तीनों प्रकार के प्रमाणों का निरूपण किया है और आप्त वाक्यों, अर्थात् शब्द-प्रमाण, पर विशेष ज़ोर दिया है। वेदों को आप ईश्वरप्रोक्त समझते हैं और आयुर्वेद उसी वेद—अथर्व किंवा ऋग्वेद—का उपवेद है। अतएव आपकी राय में ऐसे आयुर्वेद की महत्ता का क्या कहना है। विज्ञान का यह हाल है कि उसकी जो थियरी (सिद्धान्त) आज निर्भ्रान्त मानी जाती है वही कुछ ही समयोपरान्त भ्रान्त सिद्ध हो जाती है। यह बात मेजर डाक्टर रणजीतसिंह ने ख़ुद ही क़बूल की है। पर चरक और सुश्रुत आदि ग्रन्थों के निर्माता त्रिकालदर्शी ऋषि थे। वे पहुँचे हुए योगी थे। विज्ञान की बातें भले ही भ्रान्तसिद्ध हो जाँय, पर सर्वदर्शी ऋषियों के वाक्य कैसे अन्यथा सिद्ध हो सकते हैं। जब ऋषियों के वाक्यों का यह हाल है तब आयुर्वेद के जो सिद्धान्त ठेठ वेदों में भी विद्यमान हैं उन्हें काटने की शक्ति मनुष्य में तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि वेद तो प्रत्यक्ष परमात्मा का निश्वास हैं। पुस्तककार का यह कोटि-क्रम साक्षर जनों की आस्था और अनास्था पर विशेष अवलम्बित रहेगा। जो वेदों को ईश्वरोक्त और आयुर्वेद-विषयक

ग्रन्थों के उत्पादकों को बहुदर्शी योगी मानेंगे वे उसे ज़रूर ही सच समझेंगे। औरों की बात वही जानें। वे इस तर्क-प्रणाली को यदि अखण्डनीय न समझें तो आश्चर्य नहीं।

इसके आगे शास्त्री जी ने आयुर्वेद की उत्पत्ति, रोग का अधिष्ठान, रोगों की अनन्तता, रोग का त्रैकालिक ज्ञान, रोगों के मूल-स्रोत आदि का निरूपण किया है। साथ ही, मौक़ा मिलते ही, आप एलोपैथी और होम्योपैथी पर निष्ठुर आक्रमण भी करते गये है, यथा—"जिसे देखिये वही पाँच रुपये का बक्स मँगाकर डाक्टर बना बैठा है। × × × किसी दफ़्तर में नौकरी भी कर लीजिये और इलाज भी करते जाइये। कोई काठ कबाड़ की दूकान भी खोल लीजिये और डाक्टर भी बनते जाइये। जूते भी गाँठते जाइये और दुर्गापाठ भी करते जाइये। न कूट पीस की दिक़्क़त न घोट छान की किल्लत × × × आप सिर्फ बूँद टपकाते जाइये। बस इलाज ख़तम। जलचिकित्सा, रश्मि-चिकित्सा आदि की चर्चा हम आगे चल कर करेंगे"।

हमारी मन्द बुद्धि तो यह कहती है कि शहर शहर और गाँव गाँव में न तो पण्डित शालग्राम शास्त्री ही मिल सकते हैं और न अभी "मृत्युञ्जय" औषधालय ही खुल सकते हैं। अतएव यदि और किसी कारण से नहीं तो दयापरवश होकर ही शास्त्री जी इन बूँद टपकानेवाले डाक्टरों को जमे रहने दें। जनता को उनसे भूले-भटके ही सही, कुछ लाभ कभी तो हो ही जाता है। एलोपैथों और जल-चिकित्सकों आदि के विषय में भी मेरी यही प्रार्थना है।

इसी तरह आपने एलोपैथी को भी आड़े हाथों लिया है। उस पर तो आपकी बड़ी ही कड़ी फटकार पड़ी है। यूनानी, मिसरानी

आदि चिकित्साओं की भी ख़बर आपने ली है। पर सब से अधिक कोप आपने एलोपैथी ही पर प्रकट किया है। यह कोप-प्रकाशन आपने ऐसी व्यंग्यपूर्ण भाषा में किया है कि बिहारी की सतसई पर लिखी गई पण्डित ज्वालाप्रसाद की टीका की समालोचना भी उसके सामने फीकी मालूम होती है। पुस्तक भर में जहाँ कहीं आपने उस पर कुछ लिखा है वहाँ प्रायः वैसी ही भाषा में लिखा है। परन्तु यह बात नहीं कि आपने उसके दोष ही दोष दिखाये हों, और सर्वत्र उसकी नाजायज़ दिल्लगी ही उड़ाई हो। पृष्ठ ३९ और ४० में आपने उसकी शल्य-चिकित्सा (सर्जरी) की प्रशंसा भी की है। उसकी मल-मूत्र-परीक्षा, रुधिर-परीक्षा और कीटाणु-वीक्षण आदि की पद्धति को भी आप आवश्यक समझते हैं। आप की राय है कि इन बातों या शाखाओं का ज्ञान प्राप्त करना प्रत्येक चिकित्सक का कर्तव्य होना चाहिए।

आयुर्वेद-महत्व के लेखक बेचारी कुनैन पर तो खड्गहस्त ही हो गये हैं। आपने उसके दोषों का निदर्शन बहुत ही लम्बा-चौड़ा किया है। डाक्टरों के थर्मामीटर को भी आप सदोष समझते हैं। जिस मनुष्य के शरीर का स्वाभाविक ताप-मान केवल ९७ दर्जे का है उसमें यदि ९८ दर्जे की गर्मी हो जाय तो थर्मामीटर जी कहेंगे कि बुख़ार नहीं। पर शास्त्री जी बता देंगे कि बुख़ार है। अतएव बुख़ार नापने में थर्मामीटर जी "फ़ेल" और शास्त्री जी "पास"! आपकी तर्क-पद्धति कहीं कहीं पर बड़ी ही चमत्कारिणी हो गई है। उसे देख कर मन में अपूर्व आनन्द का उद्रेक हो उठता है। और मनोरञ्जन कितना होता है, इसके उल्लेख की तो ज़रूरत ही नहीं। क्योंकि उसकी नाप-तोल का कोई आला अर्थात् यन्त्र मेरे पास नहीं।

यह बात नहीं कि शास्त्री जी ने डाक्टरों और डाक्टरी ही पर चाबुक फटकारा हो; पुराने ढङ्ग के वैद्यों को भी आपने अपने वाग्बाणों का निशाना बनाया है। लिखा है—

"अनेक वैद्य लोग आज भी बाबा आदम के ज़माने की बातों को रेतने के सिवा एक इञ्च भी आगे नहीं बढ़ते। कुम्हार के चाक की तरह चाहे जितने ज़ोर से दौड़ें, पर रहते वहाँ के वहीं हैं। + + वृक्ष और वनस्पतियों की शक्ति में भेद पड़ गया है, परन्तु वैद्यों का दिमाग़ आज भी हज़ारों वर्ष की पुरानी बातों में ही चक्कर काट रहा है"।

शास्त्री जी ने आयुर्वेद के सार्वभौम सिद्धान्तों की ख़ूब विशद विवेचना करके उसके महत्व को पाठकों के गले उतार देने की यथेष्ट चेष्टा की है। साथ ही एलोपैथी में जो दोष हैं उन्हें, जहाँ तक उन से हो सका है, ख़ूब स्पष्ट कर के दिखाने में ज़रा भी कोर-कसर नहीं होने दी। आयुर्वेद को अवैज्ञानिक सिद्ध करने के लिए डाक्टरी के पक्षपाती लोग जिन दलीलों से काम लेते हैं उन सब का खण्डन करने में आपने कोई बात उठा नहीं रक्खी। साथ ही कोई दो दर्जन कारण बताकर आपने एलोपैथी को काय-चिकित्सा के अयोग्य ठहराया है। मेजर डाक्टर रञ्जीतसिंह की कौंसिलवाली वक्तृता का प्रधान अंश उद्धृत करके उनकी भी आपने ख़ूब ही ख़बर ली है।

डाक्टरों को कीटाणुवाद (Germ-Theory) पर बड़ा नाज़ है। विज्ञान-सम्मत चिकित्सा में इन पक्षपाती डाक्टरों को अप्रतिभ या अपदस्थ करने के लिए शास्त्री जी ने वेदों से अनेक मन्त्र देकर यह दिखाया है कि ये सिद्धान्त तुम्हारे यहाँ अभी कल से ज्ञात हुए हैं; हमारे यहाँ तो ईश्वरोक्त वचनों ही में निबद्ध पाये जाते

हैं। इसमें सन्देह नहीं कि शास्त्री जी ने जिन मन्त्रों की अवतारणा की है उनमें इन सिद्धान्तों का बीज अवश्यमेव विद्यमान है। हाँ, वह उतना विकसित रूप में नहीं है जितना कि इस बीसवीं शताब्दी में निर्म्मित पश्चिमी देशों की पुस्तकों में पाया जाता है। पर है वह ज़रूर। आपने राजयक्ष्मा (Pthisis) से सम्बन्ध रखनेवाले भी सिद्धान्त वेदों से ढूँढ़ निकाले हैं। उनमें कुछ बातें ऐसी हैं जिन का पता डाक्टरी के ग्रन्थों में अब तक भी नहीं पाया जाता। राजयक्ष्मा तथा अन्य कई भीषण रोगों से पीड़ित कुछ ऐसे रोगियों का भी उल्लेख शास्त्री जी ने किया है जिन को असाध्य समझ कर डाक्टरों ने छोड़ दिया था। ये सभी रोगी शास्त्री जी की कृपा से चङ्गे हो गये। इस विषय में आपने उन रोगियों और उनके सम्बन्धियों की असली चिट्ठियाँ, अंगरेज़ी में, ज्यों की त्यों, छाप दी हैं। वे इस बात के प्रमाण हैं कि शास्त्री जी कोरे शास्त्री ही नहीं, किन्तु सिद्धचिकित्सक भी हैं और अन्य वैद्यों तथा डाक्टरों के परित्यक्त राजरोगियों तक को भी आप प्राणदान दे सकते हैं।

आपकी पुस्तक में क्या है और आपके लिखने की शैली कैसी है, इसका दिग्दर्शन मैंने करा दिया। अब आपकी प्रकृत पुस्तक का सारांश आप ही के शब्दों में, नीचे देकर, मैं इस छोटे से लेख को समाप्त करता हूँ—

"इस निबन्ध में हमने पहले प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण दिखाये, आगम-प्रमाण का सब से अधिक महत्व दिखाया, उसमें वेदों की सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन किया, वेदविरोधियों के लिये भी वेदों का महत्व मानने को बाध्य करने वाली महर्षि गोतम की (न्यायदर्शन की) युक्ति दिखाई, मन्त्र और आयुर्वेद के कारण वेदों की सत्यता सिद्ध करने का मार्ग दिखाया, वेद

और आयुर्वेद की विशेषता बताई, अन्य चिकित्सा-पद्धतियों के साथ आयुर्वेद की तुलना की। ऋग्वेद में आयुर्वेद के मूलतत्त्वों और प्रधान सिद्धान्तों का दिग्दर्शन कराया, आयुर्वेद के विरोधियों की आलोचना की और वर्तमान वैद्यों के कुछ दोष भी दिखाये एवं वेदों में आयुर्वेद के महत्त्व और प्रतिष्ठा-प्रतिपादक प्रमाणों का उल्लेख भी किया"।

लीजिए, सब कुछ तो कर दिया। अब रही क्या गया ? वेदों की सत्यता सिद्ध करने का मार्ग तक तो दिखा दिया गया। अब यदि कोई उस मार्ग से न जाय, कोई और ही मार्ग ढूँढ़ निकाले तो, बतानेवाले का क्या दोष ?

[जून १९२६]

खोज-विषयक रिपोर्ट

[१६]

हिन्दी-पुस्तकों की खोज का काम बड़े महत्व का है। खोज की बड़ी ज़रूरत भी है। हिन्दी-साहित्य को बहुत लोग तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। वे कहते हैं कि उसमें है ही क्या। उनकी इस भ्रमपूर्ण भावना को यह खोज दूर कर सकती है। हिन्दी के जितने ही अधिक ग्रन्थों का पता चलेगा उतना ही अधिक महत्व उसके साहित्य का बढ़ेगा। काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा इस काम को कई साल से कर रही है। पर जो लोग यह काम करते हैं उन्हें और भी कितने ही काम करने पड़ते हैं। इस कारण वे इस काम में जितना चाहिए उतना समय नहीं ख़र्च कर सकते। तथापि जो कुछ उन्होंने इस विषय में किया है और अब भी कर रहे हैं उसके लिए हम लोगों को उनका अवश्य ही कृतज्ञ होना चाहिए। इस काम में एक और भी बाधा है। वह रुपये की कमी है। गवर्नमेंट सहायता अवश्य देती है, पर वह पर्याप्त नहीं। यदि वह कृपा करके अपनी सहायता की मात्रा कुछ अधिक कर दे तो यह उपयोगी काम और भी अच्छी तरह हो सके। कुछ दिन हुए, दुःख के साथ सुना था कि गवर्नमेंट इस थोड़ी सी सहायता को भी बन्द करना चाहती है। आशा है, सर जेम्स म्यस्टन ऐसा न करेंगे। छिपी पड़ी हुई पुस्तकों के प्रचार से राजा और प्रजा दोनों को लाभ है। अतएव सहायता बन्द कर देना बड़ी भारी भूल होगी।

गवर्नमेंट प्रेस, इलाहाबाद, ने तीन साल की खोज की रिपोर्ट की एक कापी कृपा करके हमें भेजी है। यह १९०६, ७, ८ ईसवी की रिपोर्ट है। २६ अगस्त १९०९ को लिखी जाकर यह तैयार

हुई थी। छपी १९१२ में। प्रकाशित हुई है अब १९१३ में। यह दीर्घ-सूत्रता अच्छी नहीं। यह रिपोर्ट प्रयाग के इंडियन प्रेस में छपी है। इसमें कोई ४०० पृष्ठ हैं। पर असल रिपोर्ट २० ही सफ़े की है। बुँदेलखण्ड के पोलिटिकल एजन्ट के अधीन जितनी रियासतें हैं उन्हीं में की गई खोज की यह रिपोर्ट है। इसके पहले, १९०५ की जो रिपोर्ट निकल चुकी है उसका भी सम्बन्ध इसी बुँदेलखण्ड की खोज से है। वह और यह, ये दोनों रिपोर्टें, बुँदेलखण्ड ही में विद्यमान पुस्तकों की हैं। इन्हीं में बुँदेलखण्ड की खोज का काम समाप्त कर दिया गया है। बुँदेलखण्ड में रियासतों के सिवा अन्यत्र खोज करने, और खोज को कुछ अधिक समय तक जारी रखने, का सुभीता शायद नहीं। इसी से चार ही वर्षों में वहाँ की खोज खतम कर दी गई। पर छत्रपुर, चरखारी, दतिया और समथर आदि रियासतों के सिवा इस खण्ड में अन्यत्र भी हिन्दी की हज़ारों पुस्तकें हैं। कोंच, जैतपुर, कुलपहाड़, जाखलौन, तालबेहट आदि ही को लीजिए। ढूँढ़ने से यहाँ हज़ारों पुस्तकों का पता चल सकता है। जाखलौन में हमने अपनी आँखों से अनेक पुस्तकें देखी हैं। बुँदेलखण्ड और बैसवारा हिन्दी-कवियों का घर है। वहाँ अनन्त ग्रन्थ-रत्न छिपे पड़े हैं। खोजनेवाला चाहिए। पर यह काम श्रम-साध्य और धन-सापेक्ष है। अतएव जो कुछ खोज हो गई वही बहुत है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि इस प्रान्त में खोज का काम समाप्त हो गया; खोज के लिए अब और जगह नहीं।

जिन तीन वर्षों की खोज का उल्लेख इस रिपोर्ट में है उनमें सब मिला कर १०८३ पुस्तकों का पता लगा और उनका संक्षिप्त विवरण आदि भी लिखा गया। इनमें ८७३ पुस्तकों ही के कर्ताओं का पता चला; शेष २१० पुस्तकों के लेखकों का

नाम-धाम नहीं मालूम हो सका। ये ८७३ पुस्तकें ४४७ कवियों की रची हुई हैं। इन कवियों में से १२० तो बुँदेलखण्ड ही के कवि हैं। १३१ और प्रान्तों के हैं, और ८५ ऐसे हैं जिनके वसति-स्थान का पता नहीं चला। बचे १०१, सो वे कवि अभी कल के हैं। अतएव पुरानों में उनकी गिनती नहीं हो सकती। खोजे हुए ग्रन्थों में एक बारहवीं, एक तेरहवीं और बाईस पन्द्रहवीं सदी के हैं। शेष सब सोलहवीं से लेकर उन्नीसवीं सदी के। रिपोर्ट में कई उपयोगी नक़्शे हैं। बुँदेलखण्ड के कवि, अन्यत्र के कवि, अज्ञात-निवास कवि, अर्वाचीन कवि—इन सब के ग्रन्थादि का विवरण अलग अलग दिया गया है। इससे रिपोर्ट की उपयोगिता बढ़ गई है और हर कक्षा के कवियों और उनके रचे हुए ग्रन्थों का विवरण जानने में बहुत सुभीता होता है। इसके सिवा रिपोर्ट के अन्त में कवियों और ग्रन्थों की नामावली भी रिपोर्ट के सम्पादक ने लगा दी है। यह और भी अच्छी बात हुई है।

इस रिपोर्ट में जिन पुस्तकों के नाम आदि का निर्देश है उनमें से अधिकांश कुछ भी महत्व नहीं रखतीं। परन्तु हिन्दी-साहित्य में ऐसी ही पुस्तकों का बाहुल्य है। अतएव खोज करने-वालों का इसमें कुछ भी दोष नहीं। परन्तु साथ ही इसके इसमें ऐसी भी कुछ पुस्तकों का उल्लेख है जो बहुत कुछ महत्व रखती हैं। इनमें से कई एक राजनीति, धनुर्विद्या, शालहोत्र, वैद्यक आदि पर हैं।

रिपोर्ट के सम्पादक ने रिपोर्ट में बुँदेलखण्ड के कवियों और उनको आश्रय देनेवाले राजों पर जो कुछ लिखा है वह विचार-पूर्वक लिखा है। उससे उस समय के बुँदेलखण्डी राजों और राज-पुरुषों के विद्याव्यासङ्ग और कविता-प्रेम का अच्छा परिचय मिलता है।

इस रिपोर्ट के दूसरे पृष्ठ पर लिखा है—"प्रसिद्ध कवि पद्माकर की दो और पुस्तकों की प्राप्ति हुई है—एक तो जमुना-लहरी, दूसरी जगतसिंह विरुदावली"। परन्तु हमारा निवेदन है कि पद्माकर की जमुनालहरी की प्राप्ति हुए और उसे छपे हुए बहुत समय हुआ। हमने उसे लड़कपन में पढ़ा था।

जैसा ऊपर कहा गया है, इस रिपोर्ट में तीन प्रकार के कवियों के नाम आदि का निर्देश है—अर्थात् बुँदेलखण्ड के कवियों का, अन्यत्र के कवियों का, और ऐसों का जिनके रहने का स्थान ज्ञात नहीं। पर इनमें से केवल बुँदेलखण्ड के कवियों के ग्रथों ही के आद्यन्त के नमूने दिये गये हैं। अन्य दोनों प्रकार के कवियों के ग्रन्थों के केवल नाम, पृष्ठसंख्या, श्लोकसंख्या, पृष्ठों की लम्बाई-चौड़ाई इत्यादि ही देकर सन्तोष किया गया है। यह शायद इसलिए किया गया है जिसमें रिपोर्ट बहुत बड़ी न हो जाय। बात यह हुई है कि बुँदेलखण्ड के कवियों ही के ग्रन्थों को प्रधानता दी गई है। यह अनुचित जान पड़ता है। जो ग्रन्थ बहुत ही कम महत्व के हैं उनके नमूने यदि न भी दिये जाँय तो कुछ हानि नहीं; चाहे वे जहाँ के कवियों के ग्रन्थ हों। पर जो ग्रन्थ महत्वपूर्ण हैं—साहित्य की दृष्टि से जिनका मूल्य विशेष है—उनके नमूने ज़रूर देना चाहिए था। अतएव जिन ग्रन्थों के नाम इस रिपोर्ट में हैं उनमें से ऐसे वैसे ग्रन्थों का यदि केवल नामादि-निर्देश कर दिया जाता और महत्वपूर्ण सभी ग्रन्थों के नमूने दे दिये जाते तो विशेष लाभ की बात होती।

इन रिपोर्टों में एक बात और भी होनी चाहिए। प्राप्त हुए अच्छे अच्छे ग्रन्थों का परिचय कुछ अधिक विस्तार से देना चाहिए। लिखना चाहिए कि वे किस दरजे के ग्रन्थ हैं, उनमें क्या क्या गुण हैं, उनके प्रकाशन से कुछ लाभ की सम्भावना है या

नहीं। यदि दो चार भी ग्रन्थ विशेष उपयोगी समझे जायँ और खोज के अध्यक्ष उनके विषय में अपनी खुलासा सम्मति दे दें तो, सम्भव है, पुस्तक-प्रकाशन का काम करनेवाले उन ग्रन्थों को प्राप्त करके उन्हें छपा कर प्रकाशित करने का प्रयत्न करें। रिपोर्ट के मूल अंश में सम्पादक-महाशय प्रसिद्ध प्रसिद्ध पुस्तकों का उल्लेख अवश्य करते हैं, पर वह काफ़ी नहीं। रिपोर्ट के आरम्भ में लिखा है:—

"The discovery of a story of Rama, named Ram-charita Ramayana, in the Doha and Chaupai metre, by one Bhupati, who wrote it so early as the year 1285 A. D. and as belonging to a date much earlier than that of the celebrated Tulsi Dasa, is very remarkable."

अर्थात्—रामचरित-रामायण नाम की एक पुस्तक मिली है। उसमें रामचन्द्र की कथा है। वह दोहा और चौपाई छन्दों में है। उसकी रचना भूपति नाम के किसी कवि ने की है। वह बहुत पुरानी, अर्थात् १२८५ ईसवी की, है। अतएव वह प्रसिद्ध भक्त तुलसीदास के भी बहुत पहले की हुई। यह बात स्मरणीय है—इस पुस्तक की प्राप्ति एक अनूठी बात है।

परन्तु इतना ही लिख कर चुप न हो जाना चाहिए था। इस पर कुछ अधिक विचार करना चाहिए था। क्योंकि तुलसीदास के कई सौ वर्ष पहले की बनी हुई रामायण की प्राप्ति सचमुच ही साहित्य-सम्बन्धिनी अनोखी घटना है।

भूपति कवि पर रिपोर्ट के भीतर जो नोट दिया गया है उसमें कोई विशेष बात नहीं। वह यह है—

Bhupati भूपति (F. L. 1287 A. D.) Nothing is known of this Poet. He seems to be the same Poet whose translation of the 10th canto of the Bhagawat has been previously noticed. See report for 1902, (No. 115.)

भूपति की यह पुस्तक जब इतने महत्त्व की समझी गई तब उसका नमूना ज़रूर देना था। पर भूपति बुँदेलखण्ड के कवि न थे। इस कारण नमूना नहीं दिया गया। उनकी पुस्तक के परिचय में केवल इतना ही लिख दिया गया है कि उसमें १४ पन्ने हैं और उसकी श्लोक-संख्या १७५ है। पुस्तक की कापी दतिया की दरबार-लाइब्रेरी में है। यदि इस पुस्तक से कुछ सतरें नमूने के तौर पर दे दी जातीं तो उसके रचनाकाल का अनुमान करने में बहुत सुभीता होता।

यह १४ पन्ने की पोथी, यदि वह तुलसीदास के पहले की भी हो, कोई महत्वपूर्ण रामायण नहीं मानी जा सकेगी।

ऊपर दिये गये इस रिपोर्ट के अँगरेज़ी नोट में भूपति-कृत भागवत दशमस्कन्ध के जिस अनुवाद का उल्लेख है उसका परिचय १९०२ ईसवी की खोज की रिपोर्ट के पृष्ठ ७६ पर दिया गया है। यह पुस्तक "Incomplete" (अपूर्ण) और "Incorrect" (अशुद्ध) है। यह "कैथी" लिपि में है और गोरखपुर में एक महाशय के पास है। इस अपूर्ण, अशुद्ध और कैथी में लिखी हुई कापी का सन्-सम्वत् विश्वसनीय नहीं। यह कापी १८५७ सम्वत् की लिखी हुई है। इसके अन्त में है—

'संवत् तेरह सै भये चारी अधीक चालीस' इसी से इसका रचना-काल संवत् १३४४ बताया गया है। पर जोधपुर-निवासी

मुंशी देवीप्रसाद जी ने इसे ग़लत ठहराया है। इस विषय में उनका जो लेख अगस्त १९११ की सरस्वती में निकला है उसमें उन्होंने इस पर अच्छी तरह विचार किया है। उनके पास इस दशमस्कन्ध की एक कापी, फ़ारसी-अक्षरों में, है। उसमें लिखा है—

"संवत् सतरे से हते चार अधिक चालीस"

इसके अनुसार यह पुस्तक १७४४ में बनी थी। मुन्शी जी की कापी शुद्ध और सम्पूर्ण है। उसमें भूपति ने अपना नाम-धाम, जाति-पाँति, रहने का स्थान आदि सब लिख दिया है। उससे जो नमूने मुन्शी जी ने दिये हैं उनकी भाषा साफ कह रही है कि वह ६०० वर्ष की पुरानी नहीं। संवत् में हेर-फेर लेखकों के प्रमाद से हुआ जान पड़ता है। उसकी मूल प्रति में—"संवत् सतरह शै" रहा होगा। नक़ल करते समय किसी प्रति में 'सतरह' का 'स' भूल से रह गया होगा और 'त' पर 'ए' की मात्रा लग गई होगी। इस तरह 'सतरह' का 'तेरह' हो गया होगा। यदि यह अनुमान ठीक है तो भूपति की रामायण तुलसीदास की रामायण से पुरानी नहीं। अतएव उसकी प्राप्ति कोई विशेष उल्लेख-योग्य बात नहीं। रिपोर्ट के सम्पादक इन बातों को औरों की अपेक्षा अधिक समझ सकते हैं। यदि वे इस विषय पर विचार करके भूपति के समय का निश्चय कर देते तो बहुत अच्छा होता।

रिपोर्ट में कहीं कहीं छापे की भूलें रह गई हैं। पृष्ठ ८९ पर Asothar का Asotha छप गया है। प्राच्यदेश के नाम रोमन-लिपि में लिखने के जो नियम हैं उनका भी ठीक ठीक अनुसरण नहीं किया गया। पृष्ठ ३३२ में 'Debi Prasad' है; पर आगे पृष्ठ ३२४ में—'Debi Prasada' छप गया है।

[जून १९१३]

हिन्दी-नवरत्न

[२०]

इलाहाबाद में नागरी-प्रवर्द्धिनी नाम की एक सभा है। उसके अन्तर्गत एक और छोटी सी सभा है, जिसका नाम हिन्दी-ग्रन्थ-प्रसारक मण्डली है। यह मण्डली अच्छे अच्छे नवीन ग्रन्थ और अन्य भाषाओं के अच्छे अच्छे ग्रन्थों के अनुवाद प्रकाशित करने के उद्देश से स्थापित हुई है। कोई भी इसका सभासद हो सकता है। सभासदों को इस मण्डली की प्रकाशित पुस्तकें मुफ़ मिलती हैं। उद्देश इसका प्रशंसनीय है। हिन्दी-नवरत्न इस मण्डली की प्रकाशित की हुई पहली पुस्तक है। बाबू माणिक्यचन्द्र जैनी, बी० ए०, एल-एल० बी० इस मण्डली के मन्त्री हैं। उन्होंने इसकी एक कापी हमारे पास समालोचना के लिए भेजी है।

पुस्तक-सम्बन्धिनी साधारण बातें

इस पुस्तक को तीन भाइयों ने मिल कर लिखा है। उनके नाम हैं—(१) पण्डित गणेशविहारी मिश्र, (२) पण्डित श्याम-विहारी मिश्र, एम० ए० और (३) पण्डित शुकदेवविहारी मिश्र, बी० ए०। इनमें से अन्त के दो महाशयों से हिन्दी-प्रेमी बहुत समय से परिचित हैं। पहले महाशय का नाम अभी कुछ ही दिनों से सर्व-साधारण के सामने आने लगा है। इस पुस्तक में इन तीनों महाशयों के हाफ़टोन चित्र हैं। पुस्तक महाराजा छत्रपुर को समर्पित हुई है। उनका भी एक चित्र पुस्तक के आरम्भ में है।

पुस्तक अच्छे चिकने काग़ज़ पर, अच्छे—न बहुत बड़े, न बहुत छोटे—टाइप में, छपी है। बड़ी ही सुन्दर जिल्द बँधी हुई है। छपाई का काम प्रयाग के इंण्डियन प्रेस का है। पुस्तक के पुट्ठे पर

पुस्तक का, लेखकों का और प्रकाशक मण्डली का नाम सुनहले अक्षरों में हैं। पुस्तक के बाह्य, आभ्यन्तर, दोनों ही रूप बहुत लुभावने हैं।

पुस्तक में सब मिलाकर कुछ कम साढ़े चार सौ पृष्ठ हैं। मूल विषय नौ अंशों में विभक्त है। प्रत्येक अंश में एक एक कवि पर निबन्ध है। इन कवियों के नाम और निबन्धों की पृष्ठ-संख्या इस प्रकार है—

(१) तुलसीदास	...	...	१४०
(२) सूरदास	...	...	३२
(३) देव	...	...	४६
(४) बिहारी	...	...	२८
(५) भूषण	...	...	१६
(६) केशवदास	...	...	४१
(७) मतिराम	...	...	७
(८) चन्द	...	...	३१
(९) हरिश्चन्द्र	...	...	४२

इसके सिवा ३१ पृष्ठों की एक भूमिका है। प्रकाशकों का निवेदन, सूचीपत्र, परिशिष्ट और अशुद्धि-संशोधन आदि कोई १८ पृष्ठों में हैं। समय की कमी के कारण सूरदास, भूषण, केशवदास और चन्द वरदायी पर लिखे गये निबन्ध, जिनकी पृष्ठ-संख्या केवल १२३ है, हम नहीं पढ़ सके। अतएव इस लेख में विशेषतः अवशिष्टांश ही की समालोचना होगी।

लेखकों का विचार-स्वातन्त्र्य

अंगरेज़ी भाषा की उच्च शिक्षा पाये हुए पण्डितों में हिन्दी-प्रेम का होना ही बहुत बड़ी बात है। इन प्रान्तों में इस बात का प्रायः

अभाव सा है। फिर, हिन्दी के अच्छे अच्छे कवियों के प्रकाशित और अप्रकाशित ग्रन्थ ढूँढ़ ढूँढ़ कर उनका अध्ययन करना और उन पर निबन्ध लिखना ऐसे पण्डितों के लिए और भी बहुत बड़ी बात है। ऐसे कवियों की कविता की समालोचना करना और निर्भय होकर उनके गुण-दोषों को दिखलाना और भी प्रशंसा की बात है। अतएव, ऐसी पुस्तक का प्रकाशित होना हिन्दी के सौभाग्योदय का सूचक है। और देशों के नहीं, तो भारत के कवियों में कालिदास का आसन अवश्य ही सब से ऊँचा है। ऐसे महाकवि को भी महाराज की पदवी नहीं प्राप्त हुई। कोई उसे कालिदास महाराज—नहीं कहता। परन्तु श्रीरामचन्द्र जी के परम भक्त और महात्मा होने के कारण तुलसीदास को—'गुसाई जी महाराज'—कहते हमने सैकड़ों आदमियों को अपने कानों सुना है। जिस महात्मा के सम्बन्ध में लोगों का यह विश्वास है कि वह मुर्दों को ज़िन्दा कर देता था—विधवाओं को सधवा कर देता था—और पापियों को पुण्यात्मा बना देता था उसी की परम पुनीत मानी गई रामायण के गुणों का वर्णन करके उसके दोषों का भी निःसङ्कोच होकर उद्घाटन करना लेखकों की न्यायशीलता, मानसिक दृढ़ता और सत्यपरता का परमोज्ज्वल उदाहरण है। जो मनुष्य समाज के भय की परवा न करके अपने मन की बात कह डालने से नहीं हिचकता उसके मानसिक बल और वीरत्व की जितनी प्रशंसा की जाय कम है। जिस समाज में विचार-स्वातन्त्र्य नहीं वह चिरकाल तक जीवित नहीं रह सकता। और जिस साहित्य में स्वतन्त्र-विचार-पूर्ण पुस्तकें नहीं वह कभी उन्नत नहीं हो सकता। हिन्दी के सौभाग्य से इस पुस्तक के लेखकों में विचार-स्वातन्त्र्य है। यह लेखकों के किए कम गौरव की बात नहीं।

६

लेखकों ने तुलसीदास की कविता में जिन दोषों की उद्भावना की है उनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है—

(१) कवितावली के कुछ कवित्तों में छन्दोभङ्ग है—पृष्ठ २२।

(२) सुन्दर-काण्ड में हनूमान् ने कई काम बड़ी ही बहादुरी के किये। परन्तु, यह कह कर कि—'उमा न कछु कपि की अधिकाई—प्रभु प्रताप जो कालहिं खाई'—तुलसीदास उनके सारे यश के गाहक बन बैठे। पृष्ठ ५७।

(३) सुन्दर-काण्ड में मन्दोदरी के सामने रावण का सीता से यह कहना अनुचित हुआ कि यदि—'तू एक बार मेरी ओर देख ले तो मन्दोदरी आदि रानी (रानियाँ ?) तेरी अनुचरी करें' (हो जायँ ?) पृष्ठ ५८।

(४) 'अंगद-पैज में राज-सभा की (के ?) गाम्भीर्य्य का ध्यान नहीं रक्खा गया है'। पृष्ठ ५८।

(५) उत्तर-काण्ड में—'ज्ञान दीपक के परम परिश्रम से जलाये जाने और परम सुगमता से बुझ जाने का कथन कुछ उपहासास्पद हो गया है। पृष्ठ ६४।

(६) 'कलिमल ग्रसेउ'—इत्यादि दोहा लिखकर गोस्वामी जी ने नानक, कबीर और दादू आदि के ग्रन्थों की निन्दा की है। पृष्ठ ६४।

(७) बाल-काण्ड के अन्तर्गत आकाश-वाणी में 'मनु सत्यरूपा के स्थान पर कश्यप अदिति का नाम भ्रमवश आगया है'। पृष्ठ ७४।

(८) विभीषण राजद्रोही और विश्वासघाती थे। तुलसीदास ने रामायण में उनके चरित का जो वर्णन किया है—रावण से बिगड़ कर रामचन्द्र जी के पास चला जाना और हनूमान को

सीता का पता बतलाना आदि—उससे विभीषण का चरित बड़ा ही निन्द्य हो गया है। पृष्ठ ८८।

(९)—'दशरथ वृद्धावस्था तक कामी बने रहे'। पृष्ठ ९२।

(१०)—'गोस्वामी जी से रामभक्ति के मारे इसका (कैकेयी का) शील गुण ठीक न उतारते बना और देवी सी कह कर इसे उन्होंने अन्त में पूरी पिशाची कर डाला और महा अनुचित बातें इसके मुँह से कहा डालीं'। पृष्ठ ९४।

(११)—'ऐसे महात्मा और महाकवि को बिना सोचे (स्त्रियों की) इतनी प्रचण्ड निन्दा ।करना अनुचित था'। पृष्ठ ११०।

(१२)—परशुराम और लक्ष्मण के विवाद का 'वर्णन गोस्वामी जी के सहज गाम्भीर्य्य के बिलकुल ही अयोग्य है'। पृष्ठ ११६।

(१३)—रामचन्द्र के विषय में परशुराम के मुँह से—'संभु सरासन तोरि सठ करसि हमार प्रबोध' कहलाकर तुलसीदास ने—'परशुराम की पूरी नीचता दिखा दी है'; और फिर—"मैं तुम्हार अनुचर मुनिराया' आदि लक्ष्मण से कहलाकर मानों परशुराम को मूर्ख बनाया है। पृष्ठ ११७।

(१४)—'रामचन्द्र की महिमा बढ़ाने को गोस्वामी जी ने अन्यदेवताओं की प्रायः निन्दा कर दी है। सती-मोह इस कथन का पूर्ण प्रमाण है'। रामचन्द्र का सती को अपना प्रभाव दिखाना 'बहुत ही अनुचित हुआ'। 'सती से झूठ बोलाना भी अनुचित हुआ'। मरते समय सती का—'हरि से बर मँगवाना भी बेजा है'। पृष्ठ ११४।

(१५)—रामचन्द्र के विवाह की शोभा बढ़ाने के लिये तुलसीदास ने महादेव के विवाह की शोभा बिगाड़ दी। पृष्ठ ११५।

(१६)—महादेव से यह न कहलाना चाहिये था कि—'अनुज जानकी सहित निरन्तर बसहु राम प्रभु मम उर अन्तर' क्या महादेव जी लक्ष्मण का भी ध्यान धरते थे? परन्तु गोस्वामी ने उसमें (उससे ?) भालु कीशों को निकाल दिया यही उनकी बड़ी (?) अनुग्रह हुई'। पृष्ठ ११५।

(१७)—उत्तर-काण्ड में तुलसीदास ने नारद, शिव, विरिञ्चि, सनकादि को भी लोभ, मोह, काम का शिकार बना डाला। पृष्ठ ११५।

(१८) 'जो सम्पति सिव रावणहिं दीन्हि दिए दस माथ।

सो सम्पदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ'—इस दोहे से तुलसीदास की—'निन्दा की वृत्ति पूरी तरह प्रगट होती है'। पृष्ठ ११५।

(१९)—गोस्वामी जी ने—'ब्राह्मणों को मांसाहारी लिखा है और यह भी लिखा है कि वे क्षत्रियों का परोसा खाते थे'। पृष्ठ ४२।

लेखकों के दिखलाये हुए गोस्वामी जी के इन तथा अन्य दोषों से कोई सहमत हो या न हो, यह तो बात ही दूसरी है। कहने का मतलब सिर्फ इतना ही है कि जो बात लेखकों की समझ में जैसी जान पड़ी है उसे उन्होंने निर्भयतापूर्वक कह डाला है। समालोचक में इस गुण का होना बहुत ही अभिनन्दनीय है। लेखकों ने तुलसीदास की रामायण तथा इतर ग्रन्थों में ये और अन्य अनेक दोष जो दिखलाये हैं उनमें से कितने ही दोषों को काव्यदृष्टि से हम दोष नहीं समझते। उनके सम्बन्ध में हम लेखकों से सहमत नहीं। परन्तु, खेद है, इस लेख में हम उन पर, विस्तारभय से, कुछ नहीं लिख सकते। शूर्पणखा का नासाकर्ण-

हीन किया जाना एक महत्त्वपूर्ण घटना है। परन्तु लेखकों ने इस विषय में अपनी कोई राय नहीं दी। उन्हें इस पर यह ज़रूर लिखना था कि वे इसे उचित समझते हैं या अनुचित। बालिवध पर भी उन्होंने अपनी स्वतन्त्र सम्मति नहीं प्रकाशित की। उन्होंने जो यह लिखा कि शत्रु को छल से मारने में तुलसीदास ने कोई दोष नहीं समझा, सो तो तुलसीदास की बात हुई। यदि लेखक महोदय भी यह लिख देते कि वे इस घटना को कैसी समझते हैं, तो उनकी भी राय मालूम हो जाती।

इससे यह न समझना चाहिए कि लेखकों ने इस पुस्तक में तुलसीदास के विशेष करके दोष ही अधिक बतलाये हैं। नहीं, उन्होंने गोसाँई जी के अनेक गुणों के भी उल्लेख यथामति किये हैं। परन्तु, यहाँ पर, उनके निर्देश की विशेष आवश्यकता नहीं; क्योंकि पुराने कवियों के गुणों का उल्लेख करना कोई नई बात नहीं और न वैसा करने के लिए मानसिक बल ही की अपेक्षा है।

पुस्तक की उपादेयता

लेखकों ने तुलसीदास के ग्रन्थों का बड़े परिश्रम से पाठ करके उनकी कविता की, उसमें वर्णन की गई घटनाओं की, और उनमें उल्लिखित पात्रों के स्वभाव आदि की आलोचना की है। अन्य कवियों के ग्रन्थों आदि की समालोचनायें यद्यपि उन्होंने उतनी बारीकी से नहीं की, तथापि उनके अवलोकन से भी साधारण पाठकों को उन कवियों के सम्बन्ध की अनेक बातें मालूम हो सकती हैं। उनके जीवनचरित, उनके ग्रन्थों के नाम और विषय, उनके निर्म्माण का काल, और, लेखकों के विचारानुसार, उनकी कविताओं के गुण-दोष आदि जानने का हिन्दी-नवरत्न अच्छा साधन है।

काल्पनिक चित्र

एक को छोड़ कर अवशिष्ट जितने चित्र इस पुस्तक में हैं सब काल्पनिक हैं। लेखकों का कथन है कि वे देश, काल, सामाजिक अवस्था और अपनी अपनी कविता की वर्ण्य-वस्तु-स्थिति के आधार पर बनाये गये हैं। परन्तु इस तरह बनाये गये चित्र कहाँ तक ठीक हो सकते हैं, यह बात विचारणीय है। इस पुस्तक के तीनों लेखक सहोदर भाई हैं। पर सब के वस्त्र-परिच्छदों का ढंग जुदा जुदा है; उनके चित्र इस बात के प्रमाण हैं। एक ही समय के, एक ही नगर के, एक ही घर के मनुष्यों में जब इतना भेद-भाव है तब जिन्हें हुए सैकड़ों वर्ष बीत गये ऐसे कवियों के कल्पना-प्रसूत चित्र किस तरह उनके यथार्थ रूप-रङ्ग और कपड़े-लत्ते के व्यञ्जक हो सकते हैं? देवी-देवताओं और कथा-कहानियों के कल्पित-पात्रों की बात जुदी है। ऐतिहासिक पुस्तकों में ऐतिहासिक पुरुषों के कल्पित चित्र देने से उनका महत्व अवश्य कम हो जाता है। इसके सिवा, इस पुस्तक में दिये गये कल्पित चित्रों में यों भी कितने ही दोष हैं। देव, भूषण, विहारी और केशव के सिर पर प्रायः एक ही तरह की पगड़ियाँ हैं, जो मध्य-प्रदेश और महाराष्ट्र देश ही के निवासियों की पगड़ियों से विशेष मेल खाती हैं। जूते सब को उठी हुई नोक के पहनाये गये हैं—वैसे जूते जैसे आज कल पञ्जाब में बनते हैं। मतिराम और उनके शिष्यों के चपकन तो बिलकुल ही मराठी-फ़ैशन के हैं। उनके और उनके एक शिष्य ने जिस ढंग से डुपट्टा डाला है वह ढंग भी आज कल के महाराष्ट्रों ही का है। क्या मतिराम के समय में इसी तरह डुपट्टा लिया जाता था? विहारी और देव के समय में भी क्या गले में इसी तरह डुपट्टा डाला जाता था? पुराने ज़माने के जामे और पटके का प्रचार कब और कहाँ था? देव जी लम्बा चपकन पहने, पगड़ी रक्खे,

डुपट्टा डाले—सजे बजे—बैठे हुए कविता लिख रहे हैं। क्या कवि पूरी पोशाक पहन कर ही कविता करने बैठते हैं? विहारी के चित्र में जो दृश्य दिखाया गया है उसके वर्णन में, नीचे, यह दोहा है—

मोछ मिरोरत रसिक मनि लखहु विहारीलाल।
नर नारिन को न्हान हैं तकत खरे ढिग ताल॥

लेखकों ने जिसे महाकवि की उपाधि दी है उसे इस तरह तालाब के किनारे मोछ मरोड़ते हुए खड़ा करना और यह कहना कि नरों और नारियों, दोनों को, स्नान करते समय, देखने ही के लिए ये यहाँ आये हैं, बहुत ही अनुचित जान पड़ता है।

कवियों का श्रेणी-विभाग

जिन कवियों के चरित और जिनकी पुस्तकों की आलोचनायें हिन्दी-नवरत्न में हैं उन्हें लेखकों ने रत्न-श्रेणी ('Reserved Class') में रक्खा है। परन्तु इस श्रेणी का लक्षण क्या है, यह उन्होंने नहीं बताया। यह कवि साधारण श्रेणी का है, वह नीच श्रेणी का; इसकी कविता उससे उत्तम है, उसकी उससे; यह अमुक की श्रेणी का है, वह अमुक की। यह तो लेखकों का कथन मात्र हुआ; यह कोई लक्षण नहीं। वे अपनी रुचि के अनुसार जिसको जैसा चाहें समझ सकते हैं। यदि किसी को रामायण से आल्हा अच्छा जँचे तो वह उसे ही रत्न समझ सकता है। पर यदि वह यह चाहता हो कि और लोग भी उससे इस विषय में सहमत हों तो उसे अपने मत की पुष्टि में कुछ कहना भी चाहिए। ऐसा करने ही से और लोग उसके मत की सारता या असारता की परीक्षा कर सकेंगे। लेखकों ने पहले तो तुलसीदास आदि नौ कवियों को रत्न-श्रेणी में रक्खा है। फिर इस श्रेणी के भी तीन टुकड़े किये हैं—बृहत्त्रयी, मध्यत्रयी और लघुत्रयी। पहली त्रयी में तुलसी, सूर

और देव को उन्होंने रक्खा है; दूसरी में बिहारी, भूषण और केशव को और तीसरी में मतिराम, चन्द और हरिश्चन्द्र को। पहली त्रयी के तीनों कवियों की योग्यता उन्होंने एक सी ठहराई है; किसी को किसी से रत्ती भर भी न्यूनाधिक नहीं समझा। दूसरी और तीसरी त्रयी के कवियों की योग्यता या महत्ता उसी क्रम से उन्होंने न्यूनाधिक निश्चित की है जिस क्रम से उनके नाम उन्होंने दिये हैं। इस श्रेणी और त्रयी-विभाग ने इस विषय को और भी अधिक जटिल कर दिया है। अब, यदि, कोई और विद्वान् देव की पुस्तकों को विचारपूर्वक पढ़ कर यह निश्चय करे कि उनका दरजा बाबू हरिश्चन्द्र से भी नीचे है तो उसके और प्रस्तुत लेखकों के निश्चय की जाँच किस तरह की जाय और दोनों पक्षों में से बात किस की मानी जाय?

हिन्दी-नवरत्न के लेखकों को चाहिए था कि पहले वे रत्नश्रेणी के कवियों का लक्षण लिखते। वे दिखलाते कि कौन कौन बातें होने से किसी कवि की गणना रत्न-कवियों में हो सकती है। फिर, कवि-रत्नों की कविता-दीप्ति की भिन्न भिन्न प्रभाओं की मात्रा निर्दिष्ट करते; जिससे यह जाना जा सकता कि कितनी प्रभा होने से बृहत्, मध्य और लघु-त्रयी में उन कवियों को स्थान दिया जा सकता है। यदि वे ऐसा करते तो उनके बतलाये हुए लक्षणों की जाँच करने में सुभीता होता—तो लोग इस बात की परीक्षा कर सकते कि जिन गुणों के होने से लेखकों ने कवि को कविरत्न की पदवी के योग्य समझा है वे गुण वैसे ही हैं या नहीं; और वे प्रस्तुत कवियों में पाये भी जाते हैं या नहीं। परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। अतएव जो लोग उनके इस श्रेणी और त्रयी-विभाग को बिना परीक्षा ही के, आँख बन्द कर, मान लेना चाहेंगे वही मान सकेंगे।

लेखकों ने आचार्य और महाकवि की पदवियों का भी स्पष्टीकरण नहीं किया। उन्होंने अपनी इस पुस्तक में इन पदवियों का बाँट-चूँट बड़ी ही उदारता से किया है। अतएव इस विषय में भी वही एतराज़ किया जा सकता है जो श्रेणी-विभाग के विषय में ऊपर किया गया है। अलङ्कारशास्त्र में महाकाव्य के जो लक्षण, संस्कृत में, निर्दिष्ट हुए हैं उन लक्षणों से अन्वित काव्य लिखनेवालों को लेखक भी यदि महाकवि समझते हों तो वे लक्षण उनके सभी नवरत्न-कवियों के काव्यों में नहीं घटित होते।

होमर और वर्जिल, शेक्सपियर और मिल्टन, व्यास और वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति का अपने अपने साहित्य में जो स्थान है सूर और तुलसी का प्रायः वही स्थान हिन्दी में है। अथवा यह कहना चाहिए कि सूर और तुलसी हिन्दी में प्रायः उसी आदर की दृष्टि से देखे जाते हैं जिस दृष्टि से कि ये उल्लिखित कवि संस्कृत और अँगरेज़ी आदि भाषाओं में देखे जाते हैं। जिन सूर और तुलसी के ग्रन्थों की पूजा झोपड़ियों से लेकर राज-प्रसादों तक में होती है, जिनके कविता-कुसुमों को, छोटे से लेकर बड़े तक, सादर अपने सिर पर धारण करते हैं; जिनकी उच्च-भाव-पूर्ण उक्तियाँ पापियों को पुण्यात्मा और अधार्म्मिकों को धार्म्मिक बनाने का सामर्थ्य रखती हैं; जिनके सदुपदेश और सरस पद्य सुन कर दुराचारी भी सदाचारी हो जाते हैं और पाषाण-हृदयों के भी हृदय पिघल उठते हैं; उन्हीं से देवकवि को रत्ती भर भी कम न समझना कदापि युक्तिसङ्गत नहीं माना जा सकता। जिसने उच्च भावों का उद्बोधन नहीं किया; जिसने समाज, देश या धर्म्म को अपनी कविता द्वारा विशेष लाभ नहीं पहुँचाया; जिसने मानव-चरित्र को उन्नत करने योग्य सामग्री से अपने काव्यों को अलंकृत नहीं किया—वह भी यदि महाकवि या कविरत्न माना जा सकेगा तो

प्रत्येक देश क्या, प्रत्येक प्रान्त में भी, सैकड़ों महाकवि और कविरत्न निकल आवेंगे।

लखनऊ-निवासी पण्डित ब्रजनारायण चकबस्त उर्दू के अच्छे कवि हैं। कुछ समय हुआ, उन्होंने "हिन्दूस्तान-रिव्यू" के दो अङ्कों में उर्दू-कवियों पर एक निबन्ध लिख कर प्रकाशित किया था। उसमें उन्होंने कुछ कवियों की अत्यधिक प्रशंसा की थी। एच० एल० सी० नामक एक महाशय ने उन कवियों को उस प्रशंसा का पात्र नहीं समझा। अतएव उन्होंने चकबस्त जी के लेख पर एक आक्षेप-पूर्ण छोटा सा लेख, "हिन्दुस्तान-रिव्यू" की आक्टोबर-नवम्बर १९११ की सम्मिलित संख्या में, प्रकाशित किया है। एच० एल० सी० जी के लेख का कुछ अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं। चकबस्त जी के प्रशंसित कवियों के विषय में वे लिखते हैं—

"Do they grapple with any of the problems of life, for the solution of which every individual hungers as soon as the dream and romance of youth are shattered by the cruel realities of the world? Do they deal with the abiding questions, the answer to which is strenuously sought by every thinking being when the remorseless tide of actual facts sweeps away the hallowed citadel of every hope and illusion? * * * * The far-fetched ideas of union with the divine through constant doing on the lady's pencilled eye-lids, or on the quaint rimple in the cheek, or on the recalcitrant curl about the brow rather induce the visible tendency than awaken

any sacred associations leading the mind godward * * * Some of their ghazals are a store-house of jewelled thoughts, but judged in the mass how puerile achievement—how inadequate and profitless their performance ? The charge of ignorance is a very common place charge, easy to make, but hard to refute. The present writer cannot read Homer, Sophocles, Virgil, Dante, Goethe and Victor Hugo in the original, yet he has been able to appreciate their great art, their splendid eloquence, their steady outlook upon life, their clear vision of things divine, their noble enfranchising power. The Hindustani poets referred to by Mr. Chackbust have failed to make a mark because they fed not on the advancing hours. Their hearts held cravings for the buried day."

हमारी समझ में एच० एल० सी० महाशय का कहना बहुत ठीक है। उनका कथन लेखकों के महाकवि मतिराम आदि के विषय में भी पूरे तौर पर घटित हो सकता है। उन्होंने मनुष्य-समाज को उन्नत करने, अलौकिक आनन्द देनेवाले दृश्य दिखाने और प्राकृतिक नियमों का उद्घाटन आदि करने के विषय में भी कुछ किया ? नहीं, तो फिर वे महाकवि, कविरत्न और परमोत्तम कवि होने के कैसे अधिकारी माने जा सकते हैं ?

हिन्दी में यदि कोई कविरत्न कहे जाने योग्य कवि या महाकवि हुए हैं तो वे सूर और तुलसी ही हैं। रस, भाव, अलङ्कार, छन्दः-

शास्त्र और नायिका-भेद के परिज्ञान से मनुष्य-जाति का बहुत ही कम उपकार हो सकता है। इन विषयों पर दो एक छोटी मोटी पुस्तकें लिखनेवाले मतिराम जैसे कवि भी यदि रत्न-श्रेणी में परिगणित हो सकेंगे तो यही कहना पड़ेगा कि 'रत्न' शब्द अपने ठीक अर्थ में नहीं व्यवहृत हुआ। कहीं उससे हीरे का अर्थ लिया गया, कहीं केवल काँच का। मतिराम, देव और भूषण चाहे जितने अच्छे कवि रहे हों, पर क्या उनके ग्रन्थ उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितने कि सूर और तुलसी के? फिर, वे सूर और तुलसी की श्रेणी की सीमा के भीतर किस तरह आ सकते हैं? सूर और तुलसी के ग्रन्थों में कुछ विशेषता अवश्य है, जिसके कारण उनका इतना अधिक प्रचार और इतना अधिक आदर है। और, देव तथा मतिराम आदि के ग्रन्थों में तदपेक्षा कुछ हीनता अवश्य है, जिससे उनका इतना प्रचार और आदर नहीं। अतएव ये सब एक ही श्रेणी के कवि नहीं। सूर और तुलसी में अवश्य समता है। मतिराम, भूषण, देव, केशव और बिहारी में समता है, पर विशेष नहीं। चन्द अपने ढँग के एक ही हैं। और बाबू हरिश्चन्द्र तो सब से निराले हैं। लेखकों ने अपने नवरत्न-कवियों के जो तीन त्रयी-भेद किये हैं वे स्वयं ही इस बात के प्रमाण हैं कि ये सब एक कक्षा के कवि नहीं। आरम्भ में लेखकों ने हिन्दी-नवरत्न का जो अर्थ लिखा है—"साहित्य के नव सर्वोत्तम कवि"—उसके भी 'नव' और 'सर्व' शब्द परस्पर विरोधी हैं।

तुलसीदास

जितने शब्द हैं, चाहे वे जिस भाषा के हों, सब के अर्थों की सीमा निर्दिष्ट है। प्रत्येक शब्द ने अर्थ विशेष पर अपना अधिकार सा कर लिया है। उस से उतना ही अर्थ निकलता है; न कम न

अधिक। अर्थ पर ध्यान न देकर शब्दों का अनिर्बन्धता-पूर्वक प्रयोग करने से प्रबन्ध में विशृङ्खलता आ जाती है। यदि कोई कहे कि अमुक कवि का अमुक काव्य सर्वोत्तम है। और, फिर, कुछ दूर आगे चल कर, वही उस कवि के किसी और काव्य के विषय में भी कहने लगे कि वह भी सर्वोत्तम है, या उसकी बराबरी का काव्य किसी भाषा में है ही नहीं, तो उसकी कौन सी बात मानी जाय—पहली या दूसरी? अथवा, केवल दो चार भाषाओं का जाननेवाला कोई विद्वान् यदि यह कहे कि अमुक ग्रन्थकार के अमुक ग्रन्थ की समता इस दुनिया की किसी भाषा का कोई ग्रन्थ नहीं कर सकता तो उसकी इस उक्ति या सम्मति को कोई किस तरह विश्वसनीय या मान्य समझेगा। इस तरह की बातें किसी इतिहासकार के ग्रन्थ में यदि पाई जायँ तो उसके इतिहास का महत्व कम हुए बिना नहीं रह सकता। इतिहास-लेखक की भाषा तुली हुई होनी चाहिए। उसे बेतुकी बातें न हाँकनी चाहिए। अतिशयोक्तियाँ लिखना इतिहासकार का काम नहीं। उसे चाहिए कि वह प्रत्येक शब्द, वाक्य और वाक्यांश के अर्थ को अच्छी तरह समझ कर उसका प्रयोग करे। यह भी परमोत्तम, वह भी परमोत्तम, वह भी सर्वोत्तम—इस तरह की भाषा उसे न लिखनी चाहिए। खेद की बात है, इस पुस्तक के लेखकों ने अनेक स्थलों में शब्दार्थ का ठीक ठीक विचार नहीं किया। वे हिन्दी का इतिहास लिख रहे हैं और हिन्दी-नवरत्न का इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाते हैं। अतएव उनकी भाषा में ऐसे दोषों का होना दुःख की बात है।

जब किसी वस्तु के सर्व्वांश का ज्ञान हो जाता है—जब उसके प्रत्येक अवयव तक के पूर्ण ज्ञान से हृदय लबालब भर जाता है और वह ज्ञान स्पष्टतापूर्वक एक निश्चित रूप में अनुभूत होने लगता है—तभी वह शब्दों द्वारा स्पष्टतापूर्वक औरों पर प्रकट

भी किया जा सकता है। ज्ञान का आभास जितना ही धुँधला होगा शब्दचित्र भी उसका उतना ही धुँधला और अस्पष्ट होगा। ठप्पा जितना हो अच्छा होता है, नक़्श भी उसका उतना ही अच्छा होता है। जब दस पाँच वस्तुओं की पारस्परिक तुलना करने—प्रत्येक के गुण-दोष की जाँच करके, गुणानुसार, उनकी पारस्परिक उच्चता या अनुच्चता निश्चित करने—की आवश्यकता होती है तब तो उन वस्तुओं के सर्व्वांश का और भी अधिक स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करना पड़ता है। ऐसा ज्ञान न प्राप्त करने से उसका प्रकटीकरण कभी स्पष्ट नहीं होता। यह भी उत्तम, वह भी उत्तम और सभी उत्तम—ऐसी ही दशा में क़लम से निकलता है।

लेखकों ने इस पुस्तक में 'उत्तम' शब्द का बेहद व्यय किया है—व्यय क्या अप-व्यय कहना चाहिए। किसी किसी पृष्ठ पर तो वह तीन तीन चार चार दफ़े आगया है। उदाहरण के लिए भूमिका ही के उनतीसवें पृष्ठ पर उसका प्रयोग पाँच दफ़े हुआ है। उत्तम, उत्तमतर, परमोत्तम, सर्वोत्तम, उत्तमोत्तम, अतिउत्तम इत्यादि अनेक रूपों में वह इस पुस्तक में प्रयुक्त हुआ है। इस कारण इस शब्द की अर्थ-मर्य्यादा अनेक स्थलों में नष्ट हो गई है। लेखकों की राय में—'नेवाज, हरिकेश और लाल परमोत्तम कवि थे'। आलम, शेख, गञ्जन आदि भी 'परमोत्तम कवि थे'। दत्त, सदल, बेनी आदि भी 'बहुत उत्तम कवि' थे। तिस पर भी—'भाषा बहुत ही उत्तम' लिखने और 'उत्तम कवित्त और सवैया बनाने' के कारण मतिराम को लेखकों ने महाकवि बनाकर उन्हें नवरत्न की पदवी दे दी और नेवाज आदि के 'परमोत्तम कवि' होने पर भी उन्हें नवरत्न में रखने लायक़ न समझा। अतएव लेखकों के 'परम' 'उत्तम' और 'उत्तमोत्तम' आदि शब्द अनेक स्थलों में अपने प्राकृतिक अर्थ के बोधक नहीं। उनका प्रयोग-बाहुल्य

निरर्थक है। कृपाराम 'कवि-शिरोमणि' होकर भी और 'परम मनोहर दोहे' लिख कर भी विहारी की बराबरी के न समझे गये। मलिक महम्मद जायसी ने 'परमोत्तम प्रेम-ग्रन्थ' लिखा, और नरसैया तथा हरिदास ने 'महात्मा' होने के सिवा 'परमोत्तम कविता' भी की। तिस पर भी वे केशवदास के पास आसन पाने के अधिकारी न समझे गये। इस दशा में लेखकों के 'शिरोमणि' 'महात्मा' और 'परमोत्तम' शब्द उस अर्थ के बोधक नहीं माने जा सकते जो अर्थ उनसे निकलना चाहिए। भूमिका के छब्बीसवें पृष्ठ पर लेखक-महाशयों ने लिखा है—'उत्तम कवि भी बहुत हुए पर बहुत ही अच्छे कवियों का एक प्रकार से अभाव सा रहा'। इससे ठीक ठीक कोई यह नहीं कह सकता कि उनके 'उत्तम' और 'बहुत ही अच्छे' में परस्पर कितना भेद है और कौन विशेषण कितनी अच्छाई और उत्तमता का सूचक है। उनके लिखने के ढँग से तो यही जान पड़ता है कि बिना विशेष सोच-विचार के उन्होंने इस पुस्तक में छोटे-बड़े, कवि, महाकवि, महात्मा और तदितर—सभी के लिए मनमाने 'उत्तम', 'परमोत्तम' और 'उत्तमोत्तम' विशेषणों का प्रयोग किया है। अतएव कवियों की उत्तमता या अनुत्तमता से सम्बन्ध रखनेवाली उनकी सम्मतियाँ मानने योग्य नहीं। उनके जो जी में आया है लिख दिया है। आपटे ने 'उत्तम' शब्द का अर्थ—Best, Excellent, Foremost, Highest, Greatest—किया है; और 'परम' का अर्थ भी प्रायः वही, अर्थात्—Highest, Best, Most excellent, Greatest किया है। परन्तु लेखकों के उल्लिखित कितने ही काव्यकर्त्ता Double excellent कवि होकर भी रत्न-पदवी पाने के योग्य नहीं समझे गये। इस कारण इस बात की और भी अधिक आवश्यकता थी कि रत्न-श्रेणी के कवियों का लक्षण साफ़ शब्दों में अच्छी तरह

लिख दिया जाता। उसके न लिखे जाने और लेखकों के द्वारा 'उत्तम' और 'परमोत्तम' आदि विशेषणों के बेहद और बे-हिसाब प्रयुक्त होने से लेखकों की अनेक बातों में बेतरह शैथिल्य और असंयत भाव आगया है।

लेखकों ने जब होमर और शेक्सपियर आदि के ग्रन्थ अँगरेजी में पढ़े हैं तब, बहुत सम्भव है, उन्होंने जानसन के कविचरित और गिबन तथा ल्यकी के इतिहास भी पढ़े होंगे। अतएव यदि वे इन ग्रन्थकारों की रचना और शब्द-प्रयोग की तुलना अपनी इस पुस्तक की रचना और शब्द-प्रयोग से करेंगे तो उन्हें तत्काल ही मालूम हो जायगा कि दोनों में कितना अन्तर है। इतिहास-लेखक ने जिसके लिए जो बात कह दी वह यदि, बिना उसकी इच्छा ही के, औरों के विषय में भी घटित हो गई तो वह इतिहास-लेखक अच्छे लेखकों में नहीं गिना जा सकता।

लेखकों ने रामचरितमानस को 'संसार-साहित्य का मुकुट' (पृष्ठ ३८) माना है और अयोध्या-काण्ड के एक एक अक्षर को असाधारण (पृष्ठ ५१) समझा है। आप लोगों की राय में इस काण्ड की 'रचना संसार के समस्त-साहित्यों की रत्न है'। 'ऐसी मन-मोहनी (?) कविता' आप साहबों ने 'किसी भाषा में नहीं देखी'। तुलसीदास की कविता के विषय में आपकी राय है कि उसके—'शब्द शब्द में अद्वितीय चमत्कार देख पड़ता है'। अयोध्या-काण्ड में रामचन्द्र और भरत की बातचीत के समान—'सर्वाङ्ग-सुन्दर वार्तालाप कराने में किसी भाषा का कोई भी कवि समर्थ नहीं हुआ है'। लेखकों की—'जानिबकारी (?) में तुलसीदास से बढ़ कर कभी किसी भी भाषा में कोई कवि संसार भर में कहीं नहीं हुआ'। रामचरितमानस की नीचे दी हुई चौपाइयाँ देखिए—

जो पुर गाँऊँ बसहिँ मग माहीं । तिनहिँ नागसुर-नगर सिहाहीं ॥
केहि सुकृती केहि घरी बसाये । धन्य पुन्यमय परम सुहाये ॥
जहँ जहँ रामचरन चलि जाहीं । तेहि समान अमरावति नाहीं ॥
परसि राम-पद-पदुम-परागा । मानति भूरि भूमि निज भागा ॥

इनके विषय में अब लेखकों की राय सुनिए—

"नम्बर तीन पर जो चार चौपाई (चौपाइयाँ।?) उद्धृत की हुई हैं उनमें जितना साहित्य का सार कूट कूट कर भरा है उतना शायद संसार-सागर (?) के (की ?) किसी भाषा के किसी पद्य में कहीं भी न पाया जायगा । जहाँ तक हम लोगों ने कविता देखी या सुनी है हमने इन पंक्तियों का सा स्वाद क्या अँग्रेज़ी क्या फ़ारसी क्या हिन्दी क्या उर्दू क्या संस्कृत, किसी भी भाषा में कहीं नहीं पाया" ।

इन सम्मतियों के सम्बन्ध में हमें इतना ही कहना है कि किसी इतिहासकार या प्रतिष्ठित लेखक को ऐसी अर्गलारहित बातें लिखना और ऐसी अत्युक्तियाँ अपनी लेखनी से निकालना शोभा नहीं देता । संसार अनन्त, काल अनन्त, भाषायें अनन्त । मनुष्य की उम्र थोड़ी । इस दशा में सारे संसार की सारी भाषाओं के सारे साहित्य का कितना ज्ञान मनुष्य को हो सकता है, यह पाठक ही समझ देखें । किसी एक भाषा के साहित्य का सर्वाङ्गीण परिचय होना दुःसाध्य है; फिर सारी भाषाओं का ! लेखक क्या इस बात का दावा कर सकते हैं कि अंगरेज़ी, फ़ारसी और संस्कृत-भाषाओं के भी सारे काव्य उन्होंने देख डाले हैं ? यदि नहीं, तो उनको ऐसी भुवनव्यापिनी अत्युक्ति न कहनी चाहिए । उन्होंने अपनी दो एक पूर्वोक्त उक्तियों की सीमा को—'शायद', 'जानकारी' और 'जहाँ तक हम लोगों ने कविता देखी या सुनी है'—

से परिमित कर दिया है। यह सच है, परन्तु मनुष्य की अल्पज्ञता के ख़याल से उन्हें दुनियां भर की भाषाओं की बात कदापि न कहनी चाहिए थी। रामायण को संसार-साहित्य का मुकुट बताने और रामचन्द्र-भरत की बात-चीत के सदृश संवाद लिखने में किसी भी भाषा के किसी भी कवि को असमर्थ ठहराने में तो आप लोगों ने 'शायद' और 'जानकारी' के प्रयोग की भी आवश्यकता नहीं समझी। अतएव, दुःख से कहना पड़ता है कि आपकी इस तरह की उक्तियों का आदर समझदार आदमी कभी नहीं कर सकते। आपके कथन से यह भाव ध्वनित होता है कि आपकी राय में व्यास, वाल्मीकि, कालिदास, होमर, शेक्सपियर आदि किसी के भी ग्रन्थ साहित्य का मुकुट होने की योग्यता नहीं रखते। रखता है केवल रामचरितमानस, जिसके प्रत्येक शब्द में आप लोगों को 'अद्वितीय चमत्कार' देख पड़ा है।

लेखकों की राय में—समस्त 'बालकाण्ड उत्तमोत्तम बन पड़ा है' और अयोध्याकाण्ड की—'रचना अन्य काण्डों से इतनी उत्तम-तर है कि इसकी प्रशंसा करने के लिये कोष में शब्द नहीं'। अन्त में, ६४ पृष्ठ पर, आप लोगों ने अयोध्या-काण्ड को पहला और बाल-काण्ड को दूसरा नम्बर दिया है। सो यहाँ पर आपका 'उत्तमतर' शब्द 'उत्तमोत्तम' से भी बढ़ गया! 'उत्तमोत्तम' शब्द सर्वोत्तम का बोधक होकर भी उसे 'उत्तमतर' से हार माननी पड़ी!

विनयपत्रिका के विषय में लेखक महोदयों की राय है—"विनय-सम्बन्धी ऐसा अद्भुत और भाव-पूर्ण ग्रन्थ हमने अब तक किसी भी भाषा में नहीं देखा"। मालूम नहीं, आपने किन किन भाषाओं के कौन कौन विनय-सम्बन्धी ग्रन्थ देखे हैं। संस्कृत में स्तुतिकुसुमाञ्जलि नाम का एक ग्रन्थ है। उसके विषय में भी यदि

कोई संस्कृतज्ञ विद्वान् अपनी सम्मति प्रकट करता तो बहुत अच्छा होता।

कृष्णगीतावली को आप लोगों ने 'बड़ा ही विशद' ग्रन्थ बतलाया है। पर किस आधार या प्रमाण पर आपने इसे तुलसीदास-कृत निश्चित किया, यह नहीं लिखा। तुलसीदास ने तो प्रायः रामचरित ही का गान किया है। अतएव कुछ प्रमाण देना था कि यह तुलसीदास ही की रचना है और किसी दूसरे की नहीं; और इसकी कविता तुलसीदास की अन्यान्य कविता से कहाँ तक मिलती-जुलती है।

आप कहते हैं—"रामचन्द्र जी ने अयोध्या लौटते समय पहले प्रयाग और अयोध्या का दर्शन करके तब त्रिवेणी जी में स्नान किया इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि विमान ऊंचा उठने के कारण प्रयाग से अयोध्या देख पड़ना असम्भव नहीं"। इस पर हमारा निवेदन है कि उस ज़माने में गीधों तक की दृष्टि 'अपार' थी। सैकड़ों योजन दूर की चीज़ें वे देख सकते थे। रामचन्द्र जी ने प्रयाग से ९८ मील दूर फ़ैज़ाबाद देख लिया तो सचमुच ही क्या आश्चर्य्य! विज्ञानवेत्ताओं को कुछ आश्चर्य्य हो तो हो सकता है, औरों को नहीं। कवि और कवि-कर्म्म के ज्ञाता ऐसी बातों पर आश्चर्य्य नहीं करते। मालूम नहीं, लेखकों ने इस बात पर क्यों ज़ोर दिया। हनूमान् जी एक पर्व्वत-शिखर उखाड़ कर लङ्का को उड़ गये; भरतजी उस शिखर समेत उन्हें अपने बाण पर बिठला कर लङ्का भेज देने को तैयार हुए; दशरथ के द्वार पर ऐसी ऐसी भीड़ें हुईं कि पहाड़ भी यदि वहाँ पड़ता तो पिस कर 'रज' हो जाता। यह भी तो सब तुलसीदास जी ने लिखा है। कवियों की सृष्टि में भी क्या सर्वत्र सम्भवनीयता ढूँढ़ी जाती है?

लेखकों ने तुलसीदास के जन्म-समय के विषय में लिखा है कि उनका—'जन्म ... ... संवत् १५८९ में हुआ था'। बस, जैसे उन्हें गोस्वामी जी का जन्मपत्र मिल गया हो। प्रमाण-स्वरूप इस विषय में कुछ तो लिखना था। डाक्टर ग्रियर्सन आदि ने भी यदि तुलसीदास का जन्म-संवत् यही माना तो मानने दीजिए। वे इतिहासकार होने का दावा नहीं करते। परन्तु नवरत्न के कर्त्ताओं ने इस पुस्तक का इतिहास से घनिष्ठ सम्बन्ध बतलाया है। अतएव उन्हें तो अपने इस मत के पुष्टीकरण में कुछ ज़रूर ही कहना था।

इसी तरह आप लोगों ने भूपति कवि के विषय में लिखा है कि उन्होंने संवत् १३४४ में भागवत के दशम स्कन्ध का अनुवाद हिन्दी में किया। परन्तु मुंशी देवीप्रसाद जी ने इस बात को निर्मूल सिद्ध कर दिखाया है। उन्होंने भूपति ही के ग्रन्थ से यह प्रमाणित कर दिया है कि उसकी रचना संवत् १७४४ में हुई थी, १३४४ में नहीं।

चालुक्य-वंशी कुमारपाल, सन् ११४३ ईसवी के लगभग, अणिहलवाड़ का राजा था। उसका एक चरित जिनमण्डन गणि ने लिखा है; दूसरा जयसिंह सूरि ने; तीसरा चरित्रसुन्दर गणि ने; और चौथा, प्राकृत में, हेमचन्द्र ने। इनमें से कोई अप्राप्य नहीं सुना गया। परन्तु नवरत्न के लेखक कहते हैं—'संवत् १३०० के लगभग कुमारपालचरित्र नामक एक ग्रन्थ किसी कवि ने बनाया पर यह ग्रन्थ अब अप्राप्य है"। किस कुमारपालचरित से आपका मतलब है, नहीं मालूम। क्या किसी हिन्दी के भी कुमारपाल-चरित का आपको पता मिला है? यदि हाँ, तो उसके विषय में आपको अपने मन की बात साफ साफ लिखनी थी। इतिहास के

लिखने वालों को समझ बूझ कर और खूब छान-बीन करके अपने विचार प्रकट करने चाहिए।

लेखकों का कथन है कि विद्वानों की सम्मति में तुलसीदास 'संस्कृत के अच्छे ज्ञाता न थे और यह बात विशेषणों के अधिक प्रयोग एवं एक स्थान पर व्याकरण की एक अशुद्धि आ जाने से ठीक प्रतीत होती है'। परन्तु आपने उस एक अशुद्धि को नहीं बतलाया। आपकी ऐसी ऐसी त्रुटियों को देख कर दुःख होता है। उस एक अशुद्धि को बतला देने में कौन बड़ा परिश्रम था। लोगों को मालूम तो हो जाता कि वह कौन सी अशुद्धि है जिसे विद्वान् अशुद्धि मानते हैं और जो उनकी राय में तुलसीदास के अच्छे संस्कृतज्ञ न होने का प्रमाण है। विशेषणों का अधिक प्रयोग भी यदि अच्छी संस्कृत न जानने का प्रमाण हो सकेगा तो बाण कवि को संस्कृत से बिलकुल ही अनभिज्ञ मानना पड़ेगा, क्योंकि इस कवि की कादम्बरी में विशेषणों का अत्यधिक बाहुल्य है। लेखकों की सम्मति के अनुसार तुलसीदास ने संस्कृत-व्याकरण-सम्बन्धिनी एक भूल की है। परन्तु नागरी-प्रचारिणी सभा के सम्पादित रामचरितमानस में सात आठ अशुद्धियों का उल्लेख है। यथा—(१) 'विज्ञानधामावुभौ', (२) 'सद्धर्म्मवर्मौ,' (३) 'केकी-कण्ठाभनीलं,' (४) 'पाणौ नाराचचापं,' (५) 'मनभृङ्गसङ्गिनौ,' (६) 'कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं,' (७) 'कारुणीक कलकञ्जलोचनं,'। इन सब को रामायण के सम्पादकों ने—"संस्कृत-व्याकरण से अशुद्ध" बतलाया है। 'नमामीशमीशान निर्वाणरूपं' आदि स्तुति को तो उन्होंने—"संस्कृत-व्याकरणानुसार बहुत ही अशुद्ध" कहा है। वे सब स्थल अशुद्ध हैं या नहीं, इसका विचार संस्कृत के अच्छे वैयाकरण ही कर सकते हैं। परन्तु, कुछ भी हो, नागरी-प्रचारिणी सभा के सदस्यों ने स्पष्टतापूर्वक कह तो दिया कि

उनकी समझ में ये ये स्थल अशुद्ध हैं। नवरत्न के लेखकों को विद्वानों की सम्मत्यनुसार एक ही अशुद्धि मिली; और उसका भी उन्होंने उल्लेख न किया। प्रश्न यहाँ पर यह है कि क्या संस्कृत के अच्छे ज्ञाताओं से भी यदा कदा व्याकरणसम्बन्धिनी भूलें नहीं हो जातीं?

तुलसीदास ने रामचरितमानस में, जैसा कि उन्होंने बाल-काण्ड के आरम्भ में कह भी दिया है, संस्कृत के अनेक ग्रन्थों के भावों का सन्निवेश किया है। यह बात उनके अच्छे संस्कृतज्ञ होने का प्रमाण है। कहीं कहीं पर इन भावों को उन्होंने ऐसी ख़ूबी से घटा बढ़ा कर रक्खा है कि उनकी सुन्दरता मूल से भी विशेष बढ़ गई है। खेद है, इस पुस्तक के लेखकों ने भावों के ऐसे बिम्ब-प्रतिबिम्ब वाले दो चार स्थलों के भी उदाहरण नहीं दिये। संस्कृत, अँगरेज़ी, उर्दू और फ़ारसी के साहित्य का मन्थन करके भी क्यों उन्होंने ऐसा नहीं किया, कुछ समझ में नहीं आता। जिन भाषाओं के जानने की सूचना उन्होंने इस पुस्तक में दी है उनमें संस्कृत भी है। तो क्या संस्कृत के किसी ग्रन्थ में उन्हें कोई भाव ऐसा नहीं मिला जिसका गुम्फन गुसाईं जी ने रामचरितमानस में किया हो? यदि ऐसा हुआ हो तो हम यही कहेंगे कि उन्होंने उन ग्रन्थों को अच्छी तरह देखा ही नहीं। बिना देखे ही उन्होंने लिख दिया कि रामायण संसार के साहित्य का मुकुट है। उनकी इस पुस्तक का तुलसीदास-विषयक निबन्ध पढ़ते समय हम जैसे अल्पज्ञ को भी संस्कृत की ऐसी अनेक सूक्तियाँ स्मरण हो आईं जिनका भावार्थ गोसाईं जी की उस कविता में, किसी न किसी रूप में, वर्तमान है जिसे लेखकों ने उद्धृत किया है, या जिसका उन्होंने हवाला दिया है। उदाहरण के लिए पुस्तक का १३६ वाँ पृष्ठ देखिए। वहाँ लिखा है—

"अंगद का राज्य छिन गया था इस कारण उनको यह जान पड़ा कि ब्रह्मा ने चन्द्रमा का सार भाग हर लिया अतः उसकी छाती में छेद हो गया",—

इसे पढ़ते ही हमें नैषधचरित का यह श्लोक याद आ गया—

हृतसारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा।
कृतमध्यबिलं विलोक्यते धृतगम्भीरखनीखनीलिम ॥

ऊपर उद्धृत किये गये हिन्दी-नवरत्न के वाक्य में वाक्य-विच्छेदक एक भी चिन्ह का न होना भी बहुत खटकनेवाली बात है।

रामचरितमानस पर एक बहुत ही उपादेय और मनोरञ्जक पुस्तक लिखी जा सकती है। तुलसीदास की कविता की विशेषतायें; तुलसीदास की उपमायें; तुलसीदास का चरित्र-चित्रण; तुलसीदास के प्राकृतिक दृश्य; तुलसीदास की राजनीति; तुलसीदास की साधारण नीति; तुलसीदास की वर्णित देशभक्ति; पितृभक्ति, भ्रातृभक्ति, मातृभक्ति और पतिभक्ति—आदि पर लिखने के लिए बहुत सामग्री है। खेद की बात है, हिन्दी-नवरत्न के विद्वान् लेखकों ने इस सामग्री का यथेष्ट उपयोग नहीं किया। जहाँ कहीं इन विषयों पर उन्होंने कुछ लिखा भी है वहाँ मार्मिकता से नहीं लिखा।

मतिराम

मतिराम की बनाई हुई रसराज नामक एक पुस्तक है। उसके विषय में नवरत्न के लेखकों की राय है कि उसमें मतिराम ने 'कुल नायका (?)—भेद कह के अन्त में कह दिया है कि भाव भेद में यह आलम्बन विभाग में आता है'। मतिराम की दूसरी पुस्तक ललितललाम है। उसमें अलङ्कार-वर्णन है। सब मिला कर ४४४

पद्य उसमें हैं। उनकी तीसरी पुस्तक छन्दसार पिङ्गल है, जिसके आरम्भ के केवल दो ही चार पृष्ठ लेखकों के देखने में आये हैं। मतिराम की एक और भी पुस्तक का अभी हाल में पता लगा है; पर लेखकों के द्वारा मतिराम पर निबन्ध लिखे जाने के बाद। अतएव पूर्वोक्त दो पूरी पुस्तकों और तीसरी पुस्तक के कुछ ही पृष्ठों में अभिव्यक्त हुए कविकर्तव्य की बदौलत मतिराम महाकवि ही नहीं माने गये, किन्तु हिन्दी-कवियों में रत्न की उपाधि-योग्य भी वे समझे गये। लेखकों की राय में—'रसराज मतिराम का बहुत उत्तम ग्रन्थ है। नायका (?) भेद के ग्रन्थों में इसका बहुत ऊँचा पद है'। जान पड़ता है, मतिराम के इसी ग्रन्थ-पारिजात पर मुग्ध होकर लेखक-मधुकरों ने मतिराम को कविरत्न बनाया है। यदि यही बात है तो कृष्ण-गीतावली की आलोचना करते समय, पृष्ठ ३२ पर, आप लोगों ने तुलसीदास के विषय में यह क्यों कहा कि—"इन्होंने नायक नायकाओं के घृणित प्रेम को छोड़ कर ऊँचे दर्जे के प्रेम का वर्णन किया है'। यदि नायक-नायिकाओं का प्रेम घृणित प्रेम है तो मतिराम के—'केलि कै राति अघाने नहीं दिनहूँ में लला पुनि घात लगाई'—इत्यादि पद्य भी घृणित प्रेम-पूर्ण हैं या नहीं? यदि हैं तो फिर ये कैसे महाकवि और कैसे कविरत्न।

मतिराम की 'बहुत अच्छी' उपमाओं का लेखकों ने एक यह नमूना दिया है—

पिय आयो नव बाल तन बाढ्यो हरष बिलास।
प्रथम बारि बूँदन उठै ज्यों बसुमती सुबास॥

परन्तु हमारी प्रार्थना है कि यह उपमा मतिराम की उपज नहीं। रघुवंश के तृतीय सर्ग के तृतीय श्लोक—

तदाननं मृत्सुरभि क्षितीश्वरो रहस्युपाघ्राय न तृप्तिमाययौ।
करीव सिक्तं पृषतैः पयोमुचां शुचिव्यपाये वनराजिपल्वलम्॥

में कही गई उपमा का रूपान्तर मात्र है। रघुवंश का हिन्दी-अनुवाद करते समय इस श्लोक पर शायद आपकी नज़र गई भी हो।

मतिराम और विहारी ने संस्कृत के अनेक सुश्लोकों का भाव अपनी अपनी कविता में रख दिया है। विहारी की ऐसी कविता के कई एक उदाहरण सरस्वती में प्रकाशित भी किये जा चुके हैं।

मतिराम के महाकवि या कविरत्न होने की योग्यता या अयोग्यता के विषय में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं।

देव

इस कवि के रसविलास-नामक ग्रन्थ के विषय में लेखक-महाशयों की सम्मति है—"इस ग्रन्थ से उत्तम ग्रन्थ भाषा-साहित्य में मिलना कठिन है। केवल इतना ही खेद है कि इसका विषय नायका भेद है"। आपको इसका खेद है; हमें इसका खेद है, और बहुत खेद है, कि आप नायिका-भेद को बार बार 'नायका भेद' लिखते हैं। यही नहीं, आप 'नायका' और 'भेद' को अलग अलग भी कर देते हैं, एकत्र नहीं लिखते। सैकड़ों जगह आपने यह अशुद्धि की है। इससे इसे कोई दृष्टिदोष नहीं मान सकता। अच्छा, यह तो आपने कहा ही नहीं कि इस ग्रन्थ में नायिका-भेद होने से इसका महत्व कम हो गया; केवल खेद आपने प्रदर्शित किया। अतएव आपकी यह सम्मति कि इस ग्रन्थ से उत्तमतर ग्रन्थ हिन्दी में मिलना कठिन है' पूर्ववत् रही। तो क्या रामायण और सूरसागर भी इससे बढ़ कर नहीं? और, यदि, इस पुस्तक में नायिका-भेद होने से इसका महत्व कम हो गया तो मतिराम के रसराज का क्यों न हुआ? यदि रसराज महत्वहीन पुस्तक मानी जाय तो अलङ्कार-विषयक ललितललाम और एक पिङ्गल लिखने ही से मतिराम किस प्रकार महाकवि और कविरत्न हो सकेंगे?

पुस्तक के २०७ वें पृष्ठ पर लेखक महोदय देव के विषय में लिखते हैं—"ऐसे उत्तम छन्द किसी अन्य कविता में स्वप्न में भी नहीं देखे जाते। इनके उत्तम छन्दों के बराबर किसी विद्या में कोई छन्द पाना कठिन है"। इसी उक्ति का पिष्टपेषण २११ वें पृष्ठ पर इस प्रकार आप लोग करते हैं—"जितने उत्तमोत्तम छन्द देवजी की कविता में हैं उतने किसी की कविता में नहीं पाये जाते। यदि छन्दों की उत्तमता के हिसाब से विचार करें तो देवजी ही सर्वोत्तम कवि ठहरेंगे"। इसी कथन को आगे चल कर और भी कई दफ़े आपने दुहराया तिहराया है। आप क्षमा करें, हमें भी स्वप्न में भी कभी यह ख़याल न था कि आप ऐसी ऐसी बेतुकी बातें लिखेंगे। आपके इस 'उत्तम' शब्द ने आपकी इस पुस्तक के गौरव को बेतरह घटा दिया है। किसी 'विद्या' का क्या अर्थ ? 'विद्या' भी क्या कोई भाषा है ? और 'छन्द' से आपका क्या मतलब ? दोहा, चौपाई, घनाक्षरी, सवैया आदि से यदि आपका मतलब है तो इन छन्दों में और लोगों ने भी कविता की है। देव और कौन से लोकोत्तर या उत्तमतर छन्द निकाल लाये ? यदि छन्द से मतलब आपका पद्य से है तो जिन पद्यों पर आप मुग्ध हों उनके गुणों—अर्थ, रस, भाव, अलङ्कार, सरसता, रोचकता, लालित्य, लक्षणा, व्यञ्जना आदि—के विषय में जो कुछ कहना था कहते। छन्द की क्या तारीफ़ ! यदि देव के जैसे छन्द किसी भाषा के किसी कवि की कविता में नहीं तो फिर तुलसीदास की कविता की जो आप इतनी तारीफ़ कर आये और उनके रामचरितमानस को संसार-साहित्य का मुकुट ठहरा आये सो क्यों ?

लेखकों ने जिस पृष्ठ पर देव के छन्दों की इतनी तारीफ़ की है उसी पृष्ठ पर, लगे हाथ ही, आप उनके विषय में लिखते हैं :—

"इनके मध्या और प्रौढ़ा के भेद उतने बढ़िया नहीं आते जितने मुग्धा के।..........इनकी कविता में औरों से चोरी बहुत कम मिलती है। अधिक निर्लज्जता देवजी में कम पाई जाती है"।

मुग्धा की बात ही और है; मध्या और प्रौढ़ा उसकी बराबरी भी तो नहीं कर सकतीं। आपकी राय में देव अधिक नहीं, थोड़े निर्लज्ज ज़रूर हैं, और चोरी भी करते हैं; पर औरों की इतनी नहीं। अच्छा तो, फिर, जिसके काव्य में ऐसे ऐसे दोष हों वह महाकवि कैसे माना जा सकेगा? जिसे आप कवि-रत्न की पदवी दे रहे हैं उसका कुछ तो आदर करना था। उसके विषय में चोरी और निर्लज्जता आदि कठोर शब्दों का प्रयोग आपको करना उचित नहीं। स्त्रियों की जाति; नायिकाओं के भेद; प्रेम, राग, रस, भाव, शब्द और काव्य की व्याख्या; और राजा रईसों के विलास-ग्रन्थ लिखनेवाले देव के किस अद्भुत गुण पर मोहित होकर आपने उन्हें तुलसी और सूर के ठीक बराबर समझ लिया, इसका आपको युक्तिपूर्ण समर्थन करना चाहिए था। आपकी उड़ती हुई सम्मतियों मात्र से ही यह बात सिद्ध नहीं मानी जा सकती।

देव के सुखसागरतरङ्ग नामक ग्रन्थ के विषय में लेखकों की राय है—"भाषा-साहित्य में तुलसीकृत रामायण, सतसई और सूरसागर को छोड़कर ऐसा उत्तम कोई भी ग्रन्थ नहीं है"। अच्छा, इस ग्रन्थ में है क्या? "मोटी रीति से इसे नायका भेद का ग्रन्थ कह सकते हैं। भाषा में नायका-भेद का इतना सांगोपांग और सर्वाङ्गसुन्दर ग्रन्थ कोई नहीं है"।* सो चन्द

* यह तथा और जितने अवतरण हिन्दी-नवरत्न से इस लेख में दिये गये हैं सब मूल पुस्तक के अनुसार यथावत् नक़ल किये गये हैं।

का रासो, केशव की रामचन्द्रिका और हरिश्चन्द्र के नाटकों से भी यह बढ़ कर ठहरा! यहाँ, इस ग्रन्थ में घृणित नायिका-भेद होने से भी इसकी महत्ता कम न हुई! देव-विषयक आपकी कुछ उक्तियाँ सुनिए—

देवजी ने—"ऐसी अनूठी उपमायें लिखी हैं जो केवल यही लिखते हैं दूसरा नहीं लिखता। इनकी सभी बातें अनूठी हैं" (पृष्ठ २१४)।

"देवजी की कविता में जो गुण हैं वह अद्वितीय हैं। ऐसी उत्तम कविता किसी कवि के ग्रन्थ में एक स्थान में नहीं पाई जाती" (पृष्ठ २१६)।

अब तक सुनते चले आते थे कि उपमा-अलङ्कार में कालिदास ही अद्वितीय हैं। पर अब उनका आसन नवरत्न के कर्ताओं ने देव को दे डाला। किसी किसी की राय में अन्य हिन्दी-कवियों की उपमाओं की अपेक्षा तुलसीदास की उपमायें सब से अच्छी हैं। परन्तु वह राय भी लेखकों को मान्य नहीं। न सही, परन्तु देव की 'अनूठी उपमाओं' और 'अनूठी बातों' के यदि दो चार भी उदाहरण देकर आप यह दिखलाने की चेष्टा करते कि उनमें आपको कौन सा ऐसा अनूठापन देख पड़ा जो किसी और कवि की कविता में नहीं तो आप की बात पर विचार करने का मौक़ा तो मिलता। परन्तु आपने ऐसा करने की ज़रूरत न समझी। फिर, कहिए, आपकी बात को कोई कैसे मान सकता है। यदि देव में 'अद्वितीय गुण' है तो इनको आपने सूर और तुलसी से भी ऊँचे दरजे का कवि क्यों न माना? क्या समझ कर आपने भूमिका में यह लिख दिया कि—'तीनों कवियों में न्यूनाधिक कोई भी नहीं समझ पड़ा'। इधर आप सूर, तुलसी

और देव में से किसी को न्यूनाधिक भी नहीं समझते; उधर देव में अद्वितीय गुणों का होना और उनकी सी उत्तम कविता का किसी अन्य कवि के ग्रन्थ में एक स्थान में न पाया जाना भी लिखते हैं; और, फिर, एक ही पृष्ठ आगे, (पृष्ठ २१८ पर), इन्हीं तीनों कवियों में '९९ और १०० का अंतर' भी आप बतलाते हैं। इस तरह की पूर्व्वापर-विरुद्ध और असम्बद्ध बातें आपकी पुस्तक के महत्व को बढ़ाने वाली नहीं, किन्तु घटानेवाली हैं। आपके अनुसार जिस देव का 'चाल चलन बहुत ठीक न था,' और जिसने 'पूर्ण रसिक' होने के कारण 'प्रत्येक जाति और प्रत्येक देश की स्त्रियों का बड़ा ही सच्चा वर्णन किया है' उसकी और विषयों की कविता में भी उसके रसियापन का कहाँ तक प्रभाव पड़ा होगा, इसका अन्दाज़ा सहज ही में हो सकता है। ऐसे कामुक कवि की भी कविता सूर और तुलसी की पवित्र, उच्च और मङ्गलकारिणी कविता की बराबरी कर सकती है या नहीं, इसके विचार का भार हम सत्कविता के ज्ञाताओं ही पर छोड़ते हैं।

लेखक महोदयों ने देव के १४ ग्रन्थ देखे हैं। उन्हीं की, सरसरी तौर पर, उन्होंने इस पुस्तक में समालोचना भी की है। उस समालोचना में लेखकों ने देव की शुद्ध और सुहावनी ब्रजभाषा की प्रशंसा की है; अनुप्रासों और यमकों की बहुलता की प्रशंसा की है; नायिकाभेद-वर्णन की प्रशंसा की है; रूपक-रचना की भी प्रशंसा की है। उत्तम कलेजा निकाल कर रख देने वाले छन्दों की भी प्रशंसा की है; पर उदाहरण नहीं दिये; केवल पद्यों के संख्या—सूचक अङ्क भर दे दिये हैं। देवजी के चोज़ के दो उदाहरण आप लोगों ने दिये हैं, जिनमें से एक यह है—'जोगहू ते कठिन संयोग पर नारी को'। देवजी की अनूठी उपमाओं के

भी केवल दो उदाहरण आपने दिये हैं। उनमें से एक है :—'उर में उरोज जैसे उमगत पाग है'। इसी अनूठेपन के कारण इस कवि को उपमा-अलङ्कार में आपने सबसे बढ़ गया बताया है। यह सब तो हुआ। देवजी अच्छे कवि थे, इसमें भी कोई सन्देह नहीं। परन्तु जो कुछ लेखकों ने इस पुस्तक में देवजी के विषय में लिखा है उससे उनका तुलसीदास और सूर के सदृश होना नहीं साबित होता। उससे तो देव का उनसे सर्वथा हीन होना ही साबित होता है। लेखकों ने पृष्ठ २१७ पर लिखा है—

"जो गुण सूरदास तथा तुलसीदास की कविता में हैं वे गुण देवजी भी नहीं ला सके हैं। यदि देव जी किसी भारी कथा-प्रसङ्ग का काव्य करते तो नहीं मालूम कि उनका वर्णन कैसा होता। सम्भव है कि ये भी वैसा काव्य कर सकते जैसा कि उन महात्माओं ने किया है परन्तु जब तक कोई वैसा साहित्य रच कर दिखा न दे तब तक यह कहा नहीं जा सकता कि वह अवश्य ऐसा कर सकता है, चाहै जितना बड़ा कवि वह क्यों न हो"।

बहुत अच्छा। आप को यह सम्मति सर्वथा मान्य है। देव ने कोई वैसा काव्य नहीं रचा। अतएव वे तुलसी और सूर की बराबरी के नहीं। इन ऊपर के वाक्यों के आगे पीछे, देव की कविता के विषय में, आपने जो बड़ी बड़ी और पूर्वापर-विरोधिनी बातें लिखी हैं उन्हें हम निरर्थक समझकर आपकी इस युक्ति-सङ्गत सम्मति को माने लेते हैं।

विहारीलाल

विहारी को इस पुस्तक के लेखक—'बहुत ही उत्तम कवि' समझते हैं और—'तुलसीदास, सूरदास, और देव को छोड़ कर'

उन्हें 'सर्वोत्कृष्ट कवि' मानते हैं। उनकी राय है कि विहारी 'बड़े ही शृङ्गारी' थे और 'उनके चित्त में ६० वर्ष की अवस्था के लगभग पहुँचे बिना शान्त रस का प्रादुर्भाव न हुआ होगा।' विहारी बड़े नामी कवि हो गये, इसमें सन्देह नहीं। उनकी कविता बड़ी सरस, भावभरी और ध्वनिपूर्ण है। परन्तु विचार इस बात का करना है कि एक मात्र सात सौ दोहे की सतसई लिखने के कारण विहारी को महाकवि और कविरत्न की पदवी दी जा सकती है या नहीं। यदि पुस्तककार महाकवि और कवि-रत्न की परिभाषा लिख देते तो इस बात का विचार करने में बहुत सुभीता होता। नहीं मालूम किन गुणों के कारण वे कवियों को महाकवि और कविरत्न की पदवी के योग्य समझते हैं। विहारी को उन्होंने महाकवि लिखा है। रत्न तो वे हैं ही, क्योंकि 'नवरत्न' में उन्हें स्थान मिला है।

'रत्न' नई उपाधि है। अतएव उसका लक्षण संस्कृत के ग्रन्थों में नहीं मिलता। परन्तु महाकाव्य का लक्षण मिलता है। दण्डी ने काव्यादर्श में 'सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते—'—लिखा है। 'इतिहासकथोद्भूतं; चतुर्वर्गफलोपेतं; चतुरोदात्तनायकं; असंक्षिप्तं; लोकरञ्जकं'—आदि महाकाव्य के और भी कितने ही विशेषणों का उन्होंने उल्लेख किया है। यदि ऐसे महाकाव्य के कर्ता ही को लेखक—महोदय महाकवि समझें और दण्डी के वचनों को मानें तो उनके विहारी, देव और मतिराम आदि तुरन्त ही महाकवि के आसन से खिसक पड़ें। परन्तु यदि इस लक्षण को वे असङ्गत समझें तो हिन्दी का जो बृहदितिहास वे लिख रहे हैं उसमें कृपा करके 'नवरत्न' और 'महाकवि' की परिभाषा ज़रूर लिख दें। इससे लोगों को मालूम हो जायगा कि किन गुणों के होने से कवि को महाकवि की और महाकवि को

कविरत्न या नवरत्न की पदवी मिल सकती है। स्त्री को सबसे अधिक चित्ताकर्षक समझना, साठ वर्ष की उम्र तक उसी की 'रसरीति' में निमग्न रहना और उसी के हावभाव आदि का नाना भाव-भङ्गियों से वर्णन करना भी यदि महाकवि के लक्षणान्तर्गत हो तो विहारी अवश्य ही महाकवि थे।

नवरत्न के २२२ वें पृष्ठ पर लेखकों ने लिखा है—

"महाराजा जयसिंह एक छोटी सी लड़की के प्रेम में उन्मत्त हो गये थे"—लड़की, सो भी छोटी सी! यह बात समझ में नहीं आती। क्या वह अज्ञातयौवना नायिका की उम्र की भी न थी! लड़की किसकी? क्या वह जयसिंह की रानी न थी? न थी तो इसका प्रमाण? किसी की लड़की के प्रेम में उन्मत्त होना महाराजा जयसिंह की कीर्ति का वर्द्धक नहीं।

लेखक महोदयों का अनुमान है कि सतसई के एक एक दोहे पर विहारी का एक एक अशरफी पाना सच नहीं। क्योंकि—'विहारी को कलि के दानियों से सदा शिकायत रही। इससे जान पड़ता है कि इनका पूरा सन्मान कभी नहीं हुआ। यदि प्रति दोहा एक मोहर मिलती तो ये हज़ारों दोहे बना डालते'। परन्तु यह एक अनुमान मात्र है। कलि के दानियों से उनका मतलब यदि महाराजा जयसिंह को छोड़ कर और दानियों से रहा हो तो? और, विहारी ७०० अशर्फियों के दान को कुछ न समझते रहे हों तो? आप सात सौ को शायद बहुत समझते हैं; पर विहारी भी ऐसा ही समझते थे, इसका क्या प्रमाण? और, सारी सतसई बन चुकने पर जयसिंह ने दोहों की संख्या के अनुसार विहारी को अशर्फ़ियाँ दी हों; अतएव उनकी शिकायत इसके पहले की हो तो? जैसे लेखकों का वह अनुमान है, वैसा ही यह भी है। परम्परा से सुनी गई जनश्रुति के खण्डन में सबल

प्रमाण आवश्यक होते हैं। हिन्दी के इतिहास में, आशा है, लेखक वैसे प्रमाण देने की चेष्टा करेंगे।

नवरत्न के कर्ता-महाशयों का कथन है—"इन्होंने संवत् १७१९ में सतसई समाप्त की और उसके पीछे कोई ग्रन्थ या छन्द नहीं बनाया"। आप लोगों की यह निश्चयवाचक उक्ति खटकने वाली है। इसका क्या प्रमाण कि यदि कोई ग्रन्थ नहीं बनाया तो एक आध छन्द भी नहीं बनाया? सतसई के बाद की उनकी कोई रचना नहीं देखी गई; इसी से आप ऐसा कहते हैं न! परन्तु किसी वस्तु की अप्राप्ति उसके अभाव या अनस्तित्व की सूचक कैसे मानी जा सकती है।

बिहारी ने—'एक आध स्थानों पर औरों के भी कुछ भाव लिये हैं'—यह लिख कर लेखक-महोदयों ने कुछ उदाहरण ऐसे दिये हैं जिनमें बिहारी के भाव देव, रहीम, सीतल, केशव आदि के भावों से लड़ गये हैं। इस पर हमारा निवेदन है कि बिहारी की कविता में एक आध नहीं, अनेकों जगह, संस्कृत के प्राचीन कवियों के भाव पाये जाते हैं। उनमें से कितनों ही का निदर्शन सरस्वती में हो चुका है। सम्भव है, अभी आगे भी हो।

इस पुस्तक में पिष्टपेषण बहुत है। देव के विषय में लिखते समय, ऊपर, एक जगह, इसका सप्रमाण उदाहरण हम दे आये हैं। बिहारी पर जो कुछ लेखकों ने लिखा है उसमें भी यह दोष है। पुस्तक के २२१ पृष्ठ पर है :—

"बिहारी का जन्म-स्थान बसुआ गोबिन्दपुर नामक एक ग्राम जो ग्वालियर के निकट है कहा जाता है"। इसके अगले ही पृष्ठ पर यह बात फिर दुहराई गई है :—"इनका जन्म ग्वालियर के समीप बसुआ गोविन्दपुर में हुआ था।" इस पुनरुक्ति में इतनी

विशेषता है कि गाँव के नाम के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों अंश मिलाकर एक ही जगह रख दिये गये हैं; बीच में स्पेस नहीं छोड़ा गया। जो अच्छे लेखक हैं वे व्यर्थ पिष्टपेषण नहीं करते।

हरिश्चन्द्र

लेखकों ने हिन्दी-नवरत्न की भूमिका में लिखा है :—"हम इन महाशयों को इनके किसी ख़ास समय में उत्पन्न होने के कारण तो नवरत्न में रखते नहीं हैं बरन् इनको उत्तमता ही इनके इस मान का कारण है। तब इसी उत्तमता के अनुसार पूर्वापर-क्रम न रख कर काल-क्रम का सहारा लेना हमें युक्तिसङ्गत नहीं समझ पड़ा।" आपके इन 'उत्तम' और 'उत्तमता' आदि शब्दों की माया कुछ भी समझ में नहीं आती। जब तक आप अव्याप्ति और अति-व्याप्ति दोषों से रहित, तर्कशास्त्र-सम्मत, इनका लक्षण नहीं बतलाते तब तक कौन आपकी इस बात को मानेगा कि आपके उल्लिखित सभी लेखक या कवि-रत्न थे। हरिश्चन्द्र के विषय में आप लोग लिखते हैं :—"हम भाषा के नौ प्रसिद्ध और सर्वोत्तम कवियों में इनको भी समझते हैं"। समझिए। पर समझना एक बात है, समझाना दूसरी बात। यदि आपकी यह इच्छा हो कि आपकी बात और भी कोई मान ले तो हिन्दी के इतिहास में आप इस बात को युक्ति और तर्क द्वारा सिद्ध कीजिए कि कैसी और कितनी उत्तमता के कारण आपने मतिराम को भी रत्न समझा और हरिश्चन्द्र को भी। जिन हरिश्चन्द्र ने भिन्न भिन्न विषयों के कितने ही गद्यपद्यात्मक काव्य, नाटक और इतिहास आदि लिखे और जिनकी बदौलत हिन्दी-भाषा ने एक नया रूप पाया वे भी रत्न! और, पुराने पन्थ के पथिक, नायिका-भेद आदि पर बहुत ही कम

उपयोगी ग्रन्थ लिखनेवाले मतिराम और देव भी रत्न ! रत्न शब्द की इससे अधिक अवहेलना और क्या हो सकती है? लेखकों के अनुसार 'प्रतिनिधि' कवि होकर भी बेचारे हरिश्चन्द्र नवरत्न की लघुत्रयी ही में नहीं पटके गये; किन्तु मतिराम महाराज के आसन से भी नीचे उतार दिये गये ! ! ! मध्यत्रयी और लघुत्रयी में लेखकों ने कवियों को उनकी योग्यता के अनुसार ही आगे पीछे रक्खा है; और लघुत्रयी में हरिश्चन्द्र ने सब के अन्त में स्थान पाया है। अर्थात् वे नवरत्न के निकृष्ट रत्न हैं। इस स्थान-दान में निर्दिष्ट कवियों को लेखकों ने दृढ़तापूर्वक उत्तमता में एक दूसरे के आगे पीछे पाया है। उत्तमता और योग्यता का ऐसा ज्ञान किस प्रकार की परीक्षा से लेखकों के हृदय में दृढ़ हुआ यह वही जानते होंगे।

चन्द को हुए कोई आठ सौ वर्ष हुए; मतिराम को हुए कोई ढाई सौ वर्ष; और हरिश्चन्द्र तो अभी कल हुए हैं। चन्द के समय का कवि-रत्न मतिराम के समय में कविरत्न नहीं माना जा सकता और मतिराम के समय का हरिश्चन्द्र के समय में नहीं। समय के अनुसार भाषाओं में परिवर्तन होता है और समय के अनुसार ही मनुष्यों की रुचि भी बदलती है। एक समय था जब रासो के सदृश ग्रन्थ लिखनेवालों को बड़ी बड़ी जागीरें मिलती थीं। एक समय ऐसा भी आया जब नायिका-भेद के सदृश विषयों पर लिखे गये ग्रन्थों के लिए कवियों को ख़िलतें मिलने लगीं। अब वह समय भी नहीं रहा। अतएव भिन्न भिन्न समयों में होने वाले, और उपयोग तथा उच्च विचारों की दृष्टि से न्यूनाधिक महत्व के ग्रन्थ लिखने वाले, कविकुसुम एक ही माला में नहीं गूँथे जा सकते। ऐतिहासिक काव्य लिखनेवाले चन्द आदि पुराने कवियों को अलग रखिए; देव, मतिराम और बिहारी

आदि को अलग और हरिश्चन्द्र आदि आधुनिक हिन्दी के लेखकों को अलग। तब प्रत्येक क्लास में कवि, महाकवि और रत्न ढूँढ़िये। सूर और तुलसी आदि के काव्यों के समान सर्वोपकारी, उच्चविचारपूर्ण और चिरकाल तक पुराने न होनेवाले ग्रन्थों के प्रणेता कवियों ही की आप, समय का ख़याल न करके, कोई एक श्रेणी नियत कर सकते हैं, औरों की नहीं।

हरिश्चन्द्र के विषय में लेखक कहते हैं—"हम मुक्तकण्ठ (?) कहेंगे कि ऐसा उत्तम अनुवादक भाषा-कवियों में कोई भी नहीं है"। आप लोगों की यह भी राय है कि हरिश्चन्द्र के—"नाटकों की गणना संस्कृत के उत्तम नाटकों के साथ होगी। शेक्सपियर के सब नाटक इनकी बराबरी नहीं कर सकते"। इस पर हमारी प्रार्थना है कि आपकी राय, सम्भव है, बहुत ठीक हो। परन्तु आप इस तरह की बातें इस ढङ्ग से न कहा कीजिए। कृपा करके आप अपने इतिहास में हरिश्चन्द्र के अनुवादों के कुछ अंशों को मूलसहित उद्धृत करके तब अपनी राय ज़ाहिर कीजिएगा। ऐसा करने से पढ़नेवालों पर आपकी राय का अधिक असर पड़ेगा। इसी तरह संस्कृत के और शेक्सपियर के नाटकों का मुक़ाबला हरिश्चन्द्र के नाटकों से करके तब अपनी सम्मति दीजिएगा। अन्यथा आपकी बात के न माने जाने का डर है। यदि कोई यह कहे कि सारे संसार की भाषाओं में आज तक जितने ग्रन्थकार हुए हैं उनमें हिन्दी का अमुक ग्रन्थकार सबसे बढ़कर है तो उसकी बात तर्कशास्त्र की दृष्टि में उतनी ही आदरणीय होगी जितनी कि आपकी हरिश्चन्द्र-सम्बन्धिनी ये बातें हैं। मैजिस्ट्रेट जब किसी मुक़द्दमे का फ़ैसिला लिखता है तब वह केवल अपनी आज्ञा ही सुनाकर चुप नहीं हो जाता। पहले वह दोनों पक्षों के प्रमाण-प्रमेयादि का उल्लेख करता है।

फिर उनको युक्ति और तर्क की कसौटी पर कसता है। इसके अनन्तर वह अपना सिद्धान्त स्थिर करता है। तब, तदनुकूल, वह आज्ञा सुनाता है। अच्छे लेखकों को भी दो या तदधिक विषयों की तुलना करते समय उनमें से किसी एक को ऊँचा या नीचा बतलाने के पहले इसी प्रणाली का अवलम्बन करना चाहिए।

भाषा-दोष

इस लेख में हिन्दी-नवरत्न से जो अनेक अवतरण अब तक दिये जा चुके हैं वही इस बात का अन्दाज़ा करने के लिए काफ़ी हैं कि इस पुस्तक की भाषा कैसी होगी। जिन कवियों पर लेखकों ने निबन्ध लिखे हैं उनकी कविता में शिथिलता के होने या न होने का उन्होंने अनेक बार उल्लेख किया है। मालूम नहीं, इस शिथिलता से उनका क्या मतलब है। पर, यदि इससे उनका यह मतलब है कि रचना तुली हुई नहीं है—उसमें असंयत-भाव है—तो यह दोष इस पुस्तक में भी है और बहुत अधिक है। इसके कारण इस पुस्तक का महत्व नष्ट सा हो गया है। जो जिस दोष को जानता है वही यदि उसे करे तो बड़े आश्चर्य्य की बात है। सावधानत-पूर्वक लिखने से ऐसे दोष दूर हो सकते हैं। भाषा इसकी परिमार्जित नहीं। विचारों की व्यर्थ पुनरावृत्तियाँ भी इस पुस्तक में बहुत हैं। इस बात के दो एक उदाहरण भी ऊपर दिये जा चुके हैं। अनेक स्थलों की रचना व्याकरण-च्युत भी है। सम्भव है, तीन आदमियों की शिरकत इसकी भाषा के अधिकांश दोषों का कारण हो। अच्छे लेखकों की भाषा जैसी होनी चाहिए वैसी भाषा इस पुस्तक की नहीं। दो चार उदाहरण लीजिए—

(१)—"हिन्दी कविता के समान संसार में किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव और श्रुति-मधुर नहीं है"। भूमिका—पृष्ठ ३० ।

"किसी भाषा की रचना ऐसी सौष्ठव········नहीं है—यह बिलकुल ही अशुद्ध है।" सौष्ठव की जगह 'सुष्ठु' चाहिए। इसके सिवा सारे संसार की भाषाओं के विषय में वही मनुष्य कुछ कह सकता है जो उन सब को जानता हो। क्या लेखक उन सबको जानने का दावा कर सकते हैं ?

(२)—"ये क्षेपक गोस्वामी जी की रामायण में ऐसे लग गये हैं कि प्रायः रामलीलाओं में वे भी खेली जाती हैं"। पृष्ठ १५।

इस पर टीका करना व्यर्थ है।

(३)—"इसके वर्णनों में किसी स्थान को उत्तम और किसी को साधारण कहना गोस्वामी जी से घोर अन्याय करना है"। पृष्ठ ५१

किसी 'पर' अन्याय किया जाता है, किसी 'से' नहीं।

(४)—"कहते हैं कि गोस्वामी जी ने पहले सीयस्वयंवर और अयोध्या-कांड की कथा बनाई थी और इतना बन जाने पर उन्हें समग्र रामायण बनाने की लालसा हुई और तब उन्होंने शेष ग्रन्थ भी बनाया"। पृष्ठ ५०।

इसमें पिछले दो 'और' आजाने से बेतरह शिथिलता आगई। उन्हें निकाल कर उनकी जगह एक एक पाई (फुल-स्टाप) रख देने से यह दोष दूर हो जाता।

(५)—"हमने उनका वर्णन थोड़े में स्थालीपुलाक न्याय दिखा दिया है"। पृष्ठ २१५।

दूषित भाषा का यह बहुत ही बुरा उदाहरण है। इस विषय के अधिक उदाहरण देकर हम लेख नहीं बढ़ाना चाहते। इतने ही उदाहरण देखकर स्थालीपुलाक न्याय से पाठक समझ सकेंगे कि इसकी भाषा सदोष है या निर्दोष और सदोष है तो कितनी।

वाक्य और वाक्यांश-दोष

जान पड़ता है कि न तो इस पुस्तक को प्रेस में देने के पहले ही किसी ने ध्यान से पढ़कर देखा, और न पीछे प्रूफों ही का सावधानी से संशोधन किया। तीन तीन विद्वान् जिस पुस्तक के कर्ता हों उसकी ऐसी दशा हुई देख दुःख होता है। मामूली मुहावरों तक को लेखकों ने कहीं कहीं पर बिगाड़ दिया है। इस पुस्तक में सैकड़ों अशुद्धियाँ ऐसी हैं जो थोड़ी ही सावधानता रखने से दूर हो सकती थीं। दस पाँच उदाहरण लीजिए—

(१) 'राजसभा की गाम्भीर्य्य' (पृष्ठ ५८)

(२) 'शिखनखों की बाहुल्य' (पृष्ठ ६०)

(३) 'रुद्राष्टक बनाई है' (पृष्ठ ६१)

(४) 'मनुष्यों के उपयोगी बातें' (पृष्ठ ६८)

(५) 'बड़े ही उत्तम रीति से वर्णित किये गये हैं' (पृष्ठ १३२)

(६) 'इनकी चातुर्य्य' (पृष्ठ २३७)

लेखकों ने 'गाम्भीर्य्य,' बाहुल्य,' 'चातुर्य्य,' और 'काव्य,' आदि शब्दों को, न मालूम किस आधार पर, स्त्री-लिङ्ग माना है।

(७) 'जन्म पर्य्यन्त में सात सै दोहे बनाकर रख दिये' (पृष्ठ २२५)

(८) 'तब तक भला उन बूँदों भेंट कहाँ हो सकती है' (पृष्ठ २२५)

(९) 'मरण आदि की अनुमानैं अवलम्बित हैं' (पृष्ठ २१९)

(१०) 'दोनों कथानक एकही व्यक्ति की रचना नहीं हो सकतीं' (पृष्ठ २०)

(११) 'बदचलन स्त्रियों के नाक काटने की रीति' (पृष्ठ ५४)

(१२) 'कृष्णानन्द की सच्ची भक्ति········अधिकता से नहीं रही' (भूमिका, पृष्ठ २१)

'कृष्ण की भक्ति' का अर्थ तो सभी समझ सकते हैं, 'कृष्णानन्द की भक्ति'—का अर्थ बिना लेखकों की व्याख्या के शायद ही कोई समझ सके।

शब्द-दोष

'अनुमति' शब्द का अर्थ, आपटे के अनुसार, आज्ञा और स्वीकृति है। वह अंगरेज़ी-शब्द Permission, Consent और Approval के अर्थ में विशेष करके व्यवहृत होता है। परन्तु लेखकों ने उसका प्रयोग सम्मति और सलाह के अर्थ में किया हैं। देखिए—

(१) 'उनकी अनुमति थी कि जिस कविता का बुध आदर न करें वह वृथा है, (पृष्ठ ४०)

(२) 'हम उसे········ललितललाम पढ़ने की अनुमति देंगे' (पृष्ठ ३०९)।

लेखक-महोदयों ने इस शब्द का कई जगह इन्हीं अर्थों में व्यवहार किया है। किस कोश की आज्ञा से, मालूम नहीं।

हिन्दी-नवरत्न के लेखक पार्वती को 'पारवती' (पृष्ठ ३९), अवतार को 'औतार' (पृष्ठ ८१) और ओषधि या औषध को 'औषधि' (पृष्ठ ८६) लिखते हैं।

पुस्तक के २९२ पृष्ठ पर लेखकों ने कथाप्रसङ्ग-वर्णन की दो प्रणालियाँ बतलाई हैं—" एक तो गोसाईं जी की भाँति दोहा चौपायों-वाली और दूसरी केशवदास की भाँति विविध छन्दोंवाली "। केशवदास को आप लोगों ने इस पिछली प्रथा का प्रचारक माना है। परन्तु, यदि सूरदास की तरह पदों में कोई कथा कहे तो क्या उस की गिनती किसी भी प्रणाली में न हो? अथवा रामकलेवा लिखनेवाले रामनाथ प्रधान की तरह यदि कोई न विविध छन्द ही लिखे और न तुलसीदास की भाँति दोहे-चौपाई ही, तो आप उसकी कविता को किस प्रणाली के अन्तर्गत समझें? क्या किसी के अन्तर्गत नहीं? रामनाथ ने जिस छन्द में रामकलेवा लिखा है वह तुलसीदास की चौपाई तो है नहीं। ख़ैर, यह तो एक अवान्तर बात हुई। उस अवतरण में जो ' विविध ' शब्द है वह सर्वथा शुद्ध है। पर शुद्धि-पत्र में वह अशुद्ध उल्लिखित हुआ है। उसकी जगह ' विविधि ' को दी गई है! जो अशुद्ध नहीं उसकी शुद्धता के लिए तो इतना प्रयास, परन्तु इसी ' विविध ' के ऊपर पाँच ही छः शब्द पहले चौपाइयों की जगह जो ' चौपायों ' छप गया है उस पर आप लोगों का ध्यान ही नहीं गया।

पुस्तक के पृष्ठ ८९ पर आप लोगों ने लिखा है—

(१) ' राजनैतिज्ञता कूट कूट कर भरी थी ' (२) 'राजनैतिज्ञता तो यहाँ तक बढ़ी चढ़ी थी ' (३) ' राजनैतिज्ञता के मामले में ······विचार नहीं करता था '।

' नैतिज्ञता ' और ' राजनैतिज्ञता ' के और भी ऐसे ही अनेक प्रयोग आप लोगों ने किये हैं। मालूम नहीं, हिन्दी के पारदर्शी पण्डित इन प्रयोगों को कैसा समझेंगे। हम तो केवल इतना ही

कहना चाहते हैं कि ये प्रयोग हिन्दी में बिलकुल ही नये हैं। ' नेचर-निरीक्षण ' भी एक नया सामासिक शब्द लेखकों ने इस पुस्तक में कई जगह लिखा है। आप लोगों के प्रयुक्त 'पद-निर्म्मायक' और ' निःप्रयोजनीय ' शब्द भी नूतनता से खाली नहीं। नायिका को तो आपने सैकड़ों जगह ' नायका ' लिख डाला है।

' सूक्ष्म ' शब्द का प्रधान अर्थ बारीक है। वह अल्पार्थक भी है; पर इस पिछले अर्थ में वह बहुत कम प्रयुक्त होता है। लेखक-महोदयों ने इस पुस्तक में उसे विशेषतः अल्पार्थक ही माना है—

(१) ' आश्रयदाताओं के विषय इतना लिख कर अब हम साहित्य इतिहास का सूक्ष्मतया कुछ वर्णन करते हैं '। भूमिका पृष्ठ १३

(२) ' इसी स्थान पर साहित्य का यह सूक्ष्म इतिहास समाप्त होता है '। भूमिका पृष्ठ ३०

(३) ' या तो ये महाराज [सूरदास जी] बहुत सूक्ष्म वर्णन करते हैं या पूर्ण विस्तार के साथ '। पृष्ठ १६०।

(४) हम विस्तारपूर्वक विहारी के कुलादि के विषय न लिख कर सूक्ष्मतया अपना मत प्रकाशित करते हैं '। पृष्ठ २२१।

इस ' सूक्ष्म और सूक्ष्मतया ' के ऐसे ही प्रयोग इस पुस्तक में, जगह जगह पर, पाये जाते हैं।

दूसरी बहुत बड़ी विलक्षणता इस पुस्तक में यह है कि 'विषय' शब्द के आगे ' में ' प्रायः इसमें रक्खा ही नहीं गया। ऊपर नं० [१] और [४] के उदाहरणों में तो इस विलक्षणता के दर्शन आपको हो ही गये। दो चार औरों के भी दर्शन नीचे कीजिए—

(१) 'बड़े बड़े कवियों के कुल गोत्रादि के विषय भी सन्देह बना रहता है'। पृष्ठ २१६।

(२) 'वैसा ही सन्देह इस महाकवि के विषय भी उपस्थित है'। पृष्ठ २१६।

(३) 'अपने विषय भी इन्होंने केवल एक दोहा लिख कर सन्तोष किया है'। पृष्ठ २१६।

(४) 'इनके विषय एक तीसरा दोहा भी प्रसिद्ध है'। पृष्ठ २१६।

ये चारों उदाहरण एक ही पृष्ठ से लिये गये हैं। इन प्रयोगों की इस पुस्तक में बेतरह भरमार है। एक ही शब्द और एक ही मुहावरे को बार बार लिखते लोग सङ्कोच करते हैं। ऐसा करना वे बुरा भी समझते हैं। परन्तु लेखक-महोदयों ने इसकी कुछ परवा नहीं की। वे शायद ऐसा ही प्रयोग सही समझते हों। पर यदि यह बात है तो कई जगह उन्होंने 'विषय' के आगे 'में' क्यों लिखा, यथा :—

'रामायणों के विषय में भी क्षेपक होने का पूरा सन्देह है'—पृष्ठ १६

जान पड़ता है यह दशा या दुर्दशा भी लेखक-महाशयों की शिरकत का ही नतीजा है।

'काल' और 'समय' शब्द के साथ 'में' के प्रयोग-विषय में भी आप लोगों ने मनमानी की है। कहीं 'में' लिख दिया है, कहीं नहीं लिखा—

(१) 'मुबारक भी इस काल में अच्छे कवि हो गये हैं'। भू० पृष्ठ २२

(२) 'अकबर बादशाह भी इसी काल में हुए हैं'। भू० पृष्ठ २२

(३) 'गंजन आदि परमोत्तम कवि इसी समय में हो गये हैं। भू० पृष्ठ २४

(४) 'केशवदास ने इसी समय में रसिकप्रिया ग्रन्थ बनाया'। भू० पृष्ठ २१

(५) 'इसी काल कुतुवन और जायसी का नाम आता है'। भू० पृष्ठ २०

(६) 'इसी समय मतिराम ने भी रचना की'। भू० पृष्ठ २३

फुटकर दोष

लिङ्ग-और वचन-सम्बन्धी भूलों का इस पुस्तक में बहुत ही आधिक्य है। एक ही शब्द दो तरह लिखा गया है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

१ { शूर्पनखा के नाक कान—पृष्ठ ८९
सूर्पनखा से झूँठ ही यह बात कहला दी—पृष्ठ १३५ }

२ { कैकेयी पहले राम का बड़ा प्यार करती थी—पृष्ठ ९३
कैकेयी मन्थरा...दशरथ-कैकयी—पृष्ठ १२३ }

३ { कुम्भकरण रावण का छोटा भाई था—पृष्ठ ९१
कुम्भकर्ण कपि सेना पराजित कर लङ्का जा रहा था—पृष्ठ ९० }

४ { ऐसी उत्तम काव्य—पृष्ठ १२७
इनके काव्य—पृष्ठ १२८ }

५ { ...झूलना रामायण तथा रोला रामायण हमारे देखने में नहीं आये—पृष्ठ ३०
थोड़ी भी रामायण पढ़ने से—पृष्ठ १२-६२७ }

६ ये उनकी वन-यात्रा माङ्गलिकसमझते थे—पृष्ठ ४३
परन्तु वह नहीं बोलते—पृष्ठ ७३
वे ········ बनाने लगे थे—पृष्ठ १४४

७ विहारी सतसई अपनी टीका समेत छपवाई थी—पृष्ठ २२०
ललितललाम का टीका गुलाब कवि द्वारा बनवाया—पृष्ठ ३०८

८ दोहाओं द्वारा बात चीत होना कहा गया है—पृष्ठ ३
दोहों में क्रमबद्ध रामायण कही गई है—पृष्ठ १९

९ सवैया कहे हैं—पृष्ठ ३१२
सवैयाओं से देवजी का स्मर्ण आता है—पृष्ठ ३१३

कहीं 'काव्य' शब्द स्त्रीलिङ्ग, कहीं पुँलिङ्ग; कहीं 'दोहा' और 'सवैया' पुँलिङ्ग, कहीं स्त्रीलिङ्ग; कहीं 'यह' और 'वह' एकचन, कहीं बहुवचन। इस प्रकार के न मालूम कितने उदाहरण इस पुस्तक में विद्यमान हैं।

सामासिक शब्द कहीं मिलाकर लिखे गये हैं, कहीं अलग अलग। किसी एक नियम की पाबन्दी नहीं की गई। 'कविता काल,' 'हिन्दी रचना,' 'भक्ति विचार,' 'चिर विमर्दित,' और 'हिन्दू राज्य' आदि सैकड़ों सामासिक शब्दों के बीच में स्पेस छोड़ दिया गया है।

'ब' और 'व' की तो बड़ी ही दुर्दशा हुई है। 'व्रजभाषा,' 'वल्लभाचार्य्य,' 'विरहु' 'विषय,' 'वध' और 'वियोग,'

आदि हज़ारों शब्द इसमें ऐसे हैं जिनमें 'व' के बदले 'ब' का प्रयोग हुआ है। लेखक-महोदयों ने स्वयं अपने नामों के 'बिहारी' शब्द में भी 'ब' ही का प्रयोग किया है। हाँ, जिल्द के ऊपर जो नाम छपे हैं उनमें 'व' अवश्य है। पर वह शायद प्रेसवालों की कृपा का फल है।

प्रूफ़ भी पुस्तक के अच्छी तरह नहीं देखे गये। छापे की कितनी ही अशुद्धियाँ रह गई हैं। लेखक महाशयों ने विराम-चिह्नों के यथास्थान प्रयोग में भी बड़ी अवहेलना की है। विषयांश के अनुसार अपने कथन को समुचित पैराग्राफों में विभक्त तक नहीं किया। भूमिका के तीसरे पृष्ठ से जो एक पैरा चला है तो दसवें पृष्ठ पर समाप्त हुआ है!

उपसंहार

इस पुस्तक के गुणों का उल्लेख समष्टिरूप से लेखारम्भ में हम कर आये हैं। यहाँ पर हम फिर भी कहते हैं कि यह पुस्तक उपादेय है। इसे लिख कर लेखक-महोदयों ने हिन्दी-साहित्य की जो सेवा की है तदर्थ वे प्रशंसा के पात्र हैं। गुणों की अपेक्षा दोषों को विशेष विस्तार से दिखाने का कारण यह है कि—"अपनी रचना की त्रुटियाँ किसी को जान ही नहीं पड़तीं"। यह इस पुस्तक के लेखकों ही की राय है। उनकी यह राय सरस्वती के पहले भाग के पृष्ठ ४२१ पर मिलेगी। हिन्दी-काव्य की आलोचना में उन्होंने उसकी त्रुटियों को दूर करने के इरादे से दोषों ही का विशेष उल्लेख किया है। अतएव हमने भी उन्हीं के दिखाये हुए मार्ग पर चलना उचित समझा। इसका एक कारण और भी है। लेखक-महोदयों का एक पत्र, अभी कुछ ही समय हुआ, कितने ही समाचारपत्रों में निकला है। उससे विदित हुआ कि

आप लोग पाँच वर्षों से हिन्दी-साहित्य का एक बहुत बड़ा—कोई एक हज़ार पृष्ठ का—इतिहास लिख रहे हैं। यह इतिहास समाप्त-प्राय है। इसमें केवल कुछ आधुनिक कवियों और लेखकों पर निबन्ध लिखना बाक़ी है। इसी से, अपनी अल्पबुद्धि के अनुसार, हमने, संक्षेप में, नवरत्न की त्रुटियाँ दिखाने का साहस किया है। लेखकों ने यदि हिन्दी का इतिहास लिखकर प्रकाशित करने की सूचना न दी होती तो हम इतनी लम्बी समालोचना लिखने की आवश्यकता भी न समझते। अब यदि इस लेख में कुछ भी सार हो तो उसे ग्रहण करके लेखक-महोदय हिन्दी-साहित्य के इतिहास को निर्दोष बनाने की चेष्टा करें। और, यदि, न हो तो जाने दें।

[जनवरी-फरवरी १९१२]

Printed by Ramzan Ali Shah, at the National Press, Allahabad.